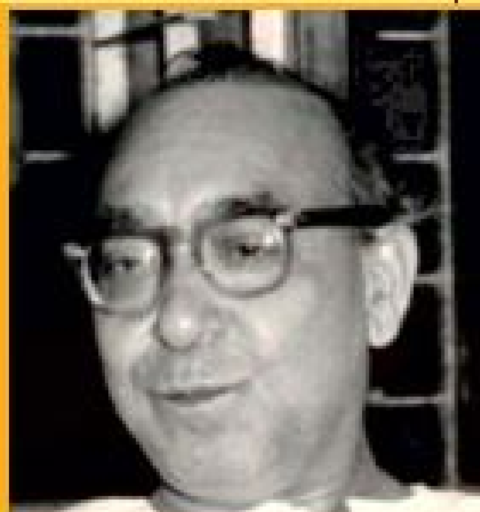


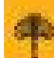
कृश्न चन्दर

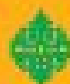
मेरी प्रिय कहानियाँ

लेखक की अपनी कहानियों में से उनकी पसंद की चुनिंदा कहानियाँ - एक विस्तृत भूमिका सहित



मेरी प्रिय कहानियाँ
कृश्न चन्दर





“

मैंने अपनी बूढ़ी नानी माँ से भी कहानियाँ सुनी हैं। और स्वयं अपनी माँ से भी इसलिए मेरी कहानी कला भी उतनी ही पुरानी है, अर्थात कहानी सुनने वाले को कहानी का आनन्द आए रात, मौत और अन्धेरे का भय दूर हो, जीवन की सुखद और प्रकाशमान कल्पनाएँ जागें जिसे उद्देश्य या गन्तव्य कुछ भी कह लीजिए मैं उसे हाथी दाँत का टावर कहता हूँ सौ वर्ष से मेरे सपनों की राजकुमारी उसी टॉवर में सो रही है उसके आसपास के सौ-सौ मील तक का जंगल सो रहा है मैं उन मूर्खों में से हूँ जो घने-अन्धेरे जंगल को पारकर हाथी दाँत का दरवाज़ा तोड़कर सोई हुई राजकुमारी की आँखों पर चुम्बन देने के इच्छुक हैं मेरी ये चुनी हुई प्रिय कहानियाँ...

”

मेरी प्रिय कहानियाँ



कृश्न चन्दर

भूमिका

नोबेल पुरस्कार विजेता शोलोखोव मेरे प्रिय लेखकों में से हैं। लेकिन कभी-कभी वे भी विचित्र दकियानूसी बात कर जाते हैं। इधर हाल में उनका एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने कहा है कि साहित्य का क्षेत्र पुरुषों के लिए है और यह कि साहित्य-सृजन स्त्रियों के वश की बात नहीं। अब यदि वे होते भारत में तो हम मिलाते उन्हें उर्दू की इस्मत चुग़ताई से, रज़िया सज्जाद ज़हीर से क़र्तुलैन हैदर से, सलमा सिद्दीक़ी से, जीलानी बानो से। हिन्दी की महादेवी वर्मा से, ऊषा देवी मित्रा, कमला चौधरी और मन्नू भंडारी से। पंजाबी की अमृता प्रीतम और प्रभजोतकौर से। फिर ये स्त्रियाँ जो अपनी-अपनी भाषा की प्रथम श्रेणी की लेखिकाएँ हैं, स्वयं समझ लेतीं शोलोखोव महोदय से। या अगर वे होते जर्मनी में तो आना सीघर्स से मुठभेड़ हो जाती उनकी, जो आधुनिक जर्मन लेखकों में अग्रणी उपन्यासकार मानी जाती हैं। या अगर वे होते मीराबाई के काल में, जेन आस्टिन या एमली ब्राँटे के युग में या इससे बहुत पहले प्रसिद्ध कवयित्री सोफो के जीवन में तो वह जीना दूभर कर देतीं उनका। वास्तव में अब तक सन्तानोत्पत्ति की महत्वपूर्ण समस्या ने स्त्रियों को फुर्सत ही कब दी कि वे किसी अन्य काम के प्रति पूरा ध्यान दे सकतीं। फिर उन्हें इतना अधिक पिछड़ा हुआ रखा गया, इतना अनपढ़ रखा गया, इतना अधिक पर्दे में या घर की चारदीवारी में बन्द रखा गया कि जीवन के अन्य विभागों की तरह ज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में भी वे अधिक संख्या में अपनी प्रतिभा न दिखा सकीं–तो इसपर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। और उनपर छींटाकशी की तो कोई गुंजाइश ही नहीं है।

मैंने शोलोखोव और स्त्रियों की चर्चा इसलिए की कि 'कहानी की कहानी' का वर्णन करने के सिलसिले में इनकी चर्चा आवश्यक थी। बहुत-से लोग यह भूल जाते हैं कि कहानी कला का आरम्भ सबसे पहले स्त्री ने ही किया था। बाद में पुरुष अपनी धाँधली और घपलेबाज़ी से उससे आगे बढ़ गया। लेकिन इस तथ्य पर अधिकतर वैज्ञानिक और अन्वेषक सहमत हैं कि कहानी कहने की कलाकार सबसे पहले स्त्री ही थी–खेती-बाड़ी की तरह। शायद इस बात से आप भी सहमत होंगे कि खेती-बाड़ी करना पुरुष को सबसे पहले स्त्री ने सिखाया था। जब मानव जंगलों में रहते थे तो अधिकतर पुरुष शिकार के लिए चले जाते थे–और शिकार खेलना आज के शिकार की तरह आसान भी न था। न बन्दूक थी उन दिनों, न राइफल, न कारतूस। तीर-धनुष भी बाद के आविष्कार हैं। इससे पहले मनुष्य के लिए किसी जन्तु को मारना और उनका माँस प्राप्त करना जान-जोखिम का काम था। कई बार अपने जाल में स्वयं

आखेटक आ जाता था, और किसी का माँस प्राप्त करने की बजाय स्वयं उसके खाने का माँस बन जाता था। इधर तो यह दुर्घटना हुई, उधर घर पर या किसी खोह में बीवी-बच्चे भूखे हैं। ऐसी स्थिति में स्त्री ने वे पौधे ढूँढ़े जिनके बीज खाकर जीवित रहा जा सकता था। स्त्री ने न केवल पुरुष को गेहूँ का दाना खाने पर प्रेरित किया बल्कि उसे उगाना भी सिखाया। चावल भी स्त्रियों की ही खोज है। फिर पत्थर के हल या किसी जंगली पशु की हड्डी से भूमि खोदकर बीजों द्वारा नए पौधे उगाना–यह भी स्त्रियों ही की देन है। आज का किसान खेत में हल चलाता है, और समझता है वह अपनी स्त्री को रोटी खिला रहा है, हालाँकि रोटी पकाकर खिलाने की कला भी स्त्रियों का ही आविष्कार है।

आपने सबसे पहली कहानी अपनी नानी माँ से सुनी होगी या दादी माँ से या अपनी माँ से। आज से हज़ारों वर्ष पहले की कहानी अर्थात् सबसे पहली कहानी भी इसी प्रकार रात के सन्नाटे में कही गई थी–अन्धेरे के भय को मिटाने के लिए। बच्चे के मन में जीवन की सुखद कल्पना को जगाने के लिए। माँ की मेहरबान गोद में सुलाने के लिए। इसी प्रकार लोरी, गीत, कविता और कहानी की कला का प्रारम्भ हुआ। चेखाव, शोलोखोव, मोपासाँ, माम, प्रेमचन्द, मण्टो, राजेन्द्रसिंह बेदी बाद में आए। पहले तो एक स्त्री आई थी। आज की भी कोई कहानी स्त्री के बिना पूर्ण नहीं होती और न ही दिलचस्प समझी जाती है।

जिस प्रकार खेती-बाड़ी की कला स्त्री के हाथ से निकलकर एक पेचीदा और मिश्रित क्रिया बन गई है उसी प्रकार कहानी माँ की लोरियाँ और परिकथाएँ आगे बढ़कर जीवन की व्याख्या बन गई हैं और बेहद पेचीदा और मिश्रित हो गई हैं।

बहुत समय तक कहानी की कला एशिया में भाटों के और योरुप में प्रोउबाडौर्ज़ के सुपुर्द रही। ये घुमक्कड़ गायक विभिन्न किस्से-कहानियों को काव्य का रूप देकर और उन्हें राग में ढालकर साज़ पर सुनाते थे। इन दिनों कहानियाँ गाई जाती थीं। कविता, संगीत और कहानी एक ही साँचे में ढल जाते थे–और क्या-क्या दिलचस्प किस्से होते थे। शूरवीरों के और बहादुरी के, नाईट्स के, राजाओं के और राजकुमारियों के, सफल और असफल प्रेमियों के, उन अप्राकृतिक दैत्यों के जो कोमलाँगी सुन्दरियों को काठ के पिंजरे में या एक छोटी-सी डिबिया में बन्द करके अपनी जेब में रख लेते थे और 'मानस गन्ध, मानस गन्ध' कहते हुए मनुष्य के शिकार की तलाश में निकल पड़ते थे।

आज कहानी उस काल से बहुत दूर निकल आई है। प्रत्यक्ष रूप से उसका सम्बन्ध कविता से, संगीत से, राग और साज़ से कट गया है। अब कहानी गद्य की भाषा में ढल गई है, लेकिन आज की कहानी भी भीतरी संगीत, भीतरी राग और उसकी लय से वंचित नहीं हो सकती जो साहित्य और कला की हर शाखा में एक अच्छी रचना को एक बुरी रचना से विशिष्ट बतलाती है। आज की अच्छी कहानी भी उसी पहले उद्देश्य को पूरा करती है, जिसकी आवश्यकता माँ ने अपने बच्चे के लिए समझी थी। अर्थात् अन्धेरे के भय को मिटाने के लिए और जीवन की सुखद

कल्पना को मानव-मन में जगाने के लिए आज भी कहानी प्रयोग में लाई जाती है, और भविष्य में लाई जाएगी। और यही इसका समुचित उद्देश्य भी होगा। क्योंकि मनुष्य यद्यपि बहुत उन्नति कर गया है, तथापि वह आज भी जंगल में रहता है। चारों खूँट जंगल बसे हैं और उनमें दीवारों के वृक्ष उगे हुए हैं, और दानव-शक्तियाँ जीवन के सुन्दर और मृदुल मूल्यों को काठ के पिंजरे में कैद किए या जेब की किसी डिबिया में डाले 'मानस गन्ध, मानस गन्ध' करती हुई मनुष्य के शिकार की तलाश में घूम रही हैं। समुदायों, जातियों और देशों के सरदार, महाराजे और सुल्तान गए तो तेल के बादशाह आ गए। लोहे के शहनशाह और जूट के सुल्तान। भाट यदि प्रशंसा-गायक नहीं हैं तो उनका सिर क़लम होगा। घुमक्कड़ों, सफल और असफल प्रेमियों के लिए कहानी कहना आज भी उतना ही कठिन है जितना उन पिछले ज़मानों में था।

इधर कहानी के क्षेत्र में कुछ नए लोग आए हैं, ये लोग कहने को 'नई पीढ़ी' के हैं लेकिन हैं बिल्कुल हमारे जैसे। हमारे जैसे ही कपड़े पहनते हैं। उसी प्रकार शेव करते है। उसी भाषा में बातचीत करते हैं, जिसमें हम करते हैं। उसी प्रकार रोटी-रोज़ी की तलाश में मारे-मारे फिरते हैं। बिल्कुल सामान्य लोगों की तरह उद्देश्य-पूर्ति के लिए खुशामद भी करते हैं। इनके जीवन के प्रत्येक विभाग में व्यवस्था है, सन्तुलन है, उद्देश्य है, मार्ग है, मंजिल है–और अगर कहीं पर कुछ नहीं है तो केवल साहित्य के क्षेत्र में नहीं है। वे जीवन के प्रत्येक अंग में किसी न किसी उद्देश्य को सामने रखते हैं लेकिन साहित्य में नहीं। आप जब उनसे बात करेंगे तो उनकी बातचीत बिल्कुल ठीक-ठीक आपकी समझ में आएगी। लेकिन जब वे कहानी लिखेंगे तो आपके पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। सिवाय ऊटपटाँग, अनबूझ पहेली के। वे कॉफ़ी हाउस का रास्ता जानते हैं लेकिन अपनी कहानी का नहीं। उन्हें अपनी नौकरी का उद्देश्य मालूम है, अपनी कहानी का नहीं। जब वे अपने घर जाते हैं तो दो टाँगों के सहारे कदम उठाते हुए जाते हैं, लेकिन अपनी कहानी में सिर के बल रेंगते हैं, और उसे आर्ट कहते हैं। मैं उन्हें कहानीकार नहीं, मदारी कहता हूँ। ये लोग रंगीन शब्दों के फ़ीते अपने मुँह से निकालते हैं। अपनी झोली से खरगोश, अपनी जेब से अंडा–और आपको आश्चर्यचकित छोड़कर चल देते हैं। बाद में आप सोचते हैं कि आपकी जेब की आखिरी चवन्नी भी इसी तमाशे की भेंट हो गई और मिला कुछ भी नहीं। और आपको कुछ मिले भी क्यों? क्योंकि ये लोग आपसे केवल लेने के क़ायल हैं, बदले में कुछ देने के नहीं–और समाज में आप जानते हैं लोग कुछ काम करते हैं। उस काम का कोई क्रम होता है, प्रबन्ध होता है, कोई उद्देश्य होता है। उस काम से किसी की सेवा की जाती है और उसका पारिश्रमिक भी मिलता है। लेकिन ये नए कहानीकार समाज को केवल इस सीमा तक मानते हैं कि समाज इनको कुछ दे और बराबर देता रहे। उसके एवज़ में ये समाज को क्या देते हैं, इसकी इन्हें कोई परवाह नहीं है। न ये इस प्रकार की बातों के क़ायल हैं। कहानी लिखते समय ये बिल्कुल निरुद्देश्य होंगे लेकिन कहानी छपते ही तुरन्त उद्देश्य के क़ायल हो जाएँगे–यानी पारिश्रमिक के, ख्याति के, सम्मान और प्रशंसा के–अर्थात् उन समस्त उद्देश्यों के, जिनके लिए सामान्य व्यक्ति प्राय: संघर्षशील रहते हैं।

मैंने अपनी बूढ़ी नानी माँ से भी कहानियाँ सुनी हैं, और स्वयं अपनी माँ से भी। इसलिए मेरी कहानी की कला भी उतनी ही पुरानी है। अर्थात् कहानी सुनने वाले को कहानी का आनन्द आए। रात, मौत और अन्धेरे का भय दूर हो। जीवन की सुखद और प्रकाशमान कल्पनाएँ जागें, क्योंकि हम सूर्य की सन्तान हैं। यदि हम अन्धकार की सन्तान होते तो हमारी आँखें न होतीं और हमारी अनुभूतियों की कुछ और ही स्थिति होती। लेकिन हम सूरज की सन्तान हैं। अग्नि हमारा देश है। प्रकाश हमारा भोजन है। चान्दनी हमारे प्रियतम का बदन है। हम आँखें डालते हैं और प्रेम करते हैं, क्योंकि हम अन्धे नहीं हैं। इस संसार में आँखों से अधिक पवित्र कोई वस्तु नहीं है।

इसीलिए मेरी कहानियाँ आँखें रखती हैं। वे मार्ग देखती हैं और आस-पास के मनोरंजक दृश्य भी, लेकिन प्रतिक्षण दृष्टि उधर ही रहती है, जहाँ जाना है। जिसे उद्देश्य या गन्तव्य कुछ भी कह लीजिए। मैं उसे हाथी दाँत का टावर कहता हूँ। सौ वर्ष से मेरे सपनों की सुन्दर राजकुमारी उस टावर में सो रही है। केवल वही नहीं सो रही, उसके आस-पास सौ-सौ मील तक सारा जंगल सो रहा है और मेरी नानी माँ ने मुझे बताया था कि जब भी कोई व्यक्ति उस घने जंगल को पार करके और उस टॉवर का दरवाजा तोड़कर उस राजकुमारी की आँखों पर चुम्बन देने में सफल हो जाएगा, राजकुमारी उसी क्षण जाग उठेगी और उसी क्षण सारा सोया हुआ जंगल भी जाग जाएगा और चारों ओर प्रकाश, प्रसन्नता फैल जाएगी।

क्या यह कहानी सचमुच इतनी पुरानी है, कि आज की परिस्थितियों से मेल नहीं खाती? क्या आज हाथीदाँत के टॉवर में कोई राजकुमारी नहीं सोई हुई? क्या आस-पास सौ वर्ष से तो क्या कई वर्षों से कोई जंगल सोया हुआ नहीं–अन्धकार में, भय में, निराशा के अन्धेरे में और मृत्यु के भयानक सायों में, जिन्होंने जीवन पर जादू करके उस मायूस राजकुमारी की आँखों में नींद भर दी है?

मैं उन मूर्खों में से हूँ जो घने अन्धेरे जंगल को पार करके हाथीदाँत के टॉवर का दरवाजा तोड़कर सोई हुई राजकुमारी की आँखों पर चुम्बन देने के इच्छुक हैं। मेरी ये चुनी हुई प्रिय कहानियाँ उसी इच्छा की प्रतीक हैं।

–कृश्न चन्दर

क्रम

जेहलम में नाव पर

गाटियालियाँ तक सफ़र अत्यन्त कष्टप्रद रहा। लारी मुसाफिरों से खचाखच भरी हुई थी और सूरज की गर्मी ने और भी उमस पैदा कर दी थी। मैं दरमियाने दर्जे में बैठा हुआ था–अब लारीवालों ने भी रेलवे की तरह विभिन्न दर्जे बना लिए हैं–और मैं अपनी क़िस्मत को कोस रहा था कि कोई कार नहीं मिली, नहीं तो रास्ता आसानी से कट जाता। वैसे भी सारी लारी में दिलचस्पी का कोई सामान न था। मेरे दाईं तरफ मोर की तरह तुर्रा फैलाए हुए एक थानेदार साहब विराजमान थे, जो बार-बार मूँछों को ताव देते जाते थे। सबसे आगे पहले दर्जे की सीट पर अर्थात् ड्राइवर के बिल्कुल पास एक तहसीलदार साहब बैठे थे, जिनकी हँसती पेशानी और ढीले साफ़े से उनके मानसिक सन्तोष का पता चलता था। मेरे सामने की सीट पर चार औरतें बैठी थीं। दो बिल्कुल बूढ़ी थीं और अधेड़ आयु की थीं, किन्तु जो औरत मेरे बिल्कुल सामने बैठी और जो अपनी गोद में एक छोटे-से बच्चे को लिए थी, वह बाकी औरतों से उम्र में कम और अधिक बदसूरत थी। वह कभी-कभी घूँघट की आड़ में मुझे देख लेती थी। इस संसार में हर व्यक्ति एक हसीन की तलाश में है। यह तो मैं दावे से नहीं कह सकता कि मैं उसकी आँखों में जँच गया, लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मैं भी एक हसीन की तलाश में था। मैंने टाई की गाँठ ठीक की और लारी के अन्दर चारों तरफ निगाह दौड़ाई। लेकिन, आह! उस मुसाफिरों से भरी हुई लारी में, जो अपनी मंज़िल की ओर बेहताशा भागी जा रही थी, मुझे कहीं भी रोमांस नज़र न आया। विरक्त चेहरे थे और हुक्के या फिर थानेदार साहब का मोर्छल। मैंने एक क्षण के लिए अपनी आँखें बन्द कर लीं और मन-ही-मन में कहा कि इस लारी में सब कुछ है पर हुस्न नहीं है। दूसरे क्षण जब मैंने आँखें खोलीं तो देखा कि कम उम्र बदसूरत औरत अपने छोटे बच्चे पर झुकी हुई उसे अत्यन्त मद्धिम स्वर में मेरी गोद में चले जाने को कह रही थी।

उसने अपने साँवले माथे से पसीने की बूँदें पोंछकर घुटे स्वर में कहा, ''आह! मैं कितनी थक गई हूँ, मेरी साँस घुटी जाती है।''

बेचारी गरीब औरत! मेरा मतलब यह है कि यद्यपि उसने रेशमी वस्त्र धारण कर रखे थे और अत्यधिक कुरूप थी, फिर भी औरत स्वभावत: गरीब और कमज़ोर होती है। अतएव मैंने छोटे बच्चे को अपनी रानों पर ले लिया।

औरत ने कृतज्ञ दृष्टि से मेरी ओर देखा फिर खिड़की से मुँह बाहर निकालकर क़ै करने लगी।

इश्क़ की मजबूरियाँ-लाचारियाँ, मैंने जल्दी से बच्चे को थानेदार साहब की गोद में ढकेल दिया और खुद उठकर ड्राइवर को लारी ठहराने के लिए कहा।

ड्राइवर बोला, ''सरकार, यहाँ लारी ठहराने से क्या फायदा? बस गाटियालियाँ का घाट कोई पौन मील रह गया है, वहीं ठहराऊँगा। कस्टम की चौकी पर, नदी के किनारे। नदी की ठण्डी हवा से इनका जी ठीक हो जाएगा।''

अतएव यही हुआ।

गाटियालियाँ और जेहलम नगर के बीच जेहलम नदी बहती है, इसलिए जेहलम नगर को जाने के लिए गाटियालियाँ की चुंगी पर प्राय: हर समय भीड़-सी लगी रहती है। रियासत जम्मू को जाते हुए मुसाफिरों का ताँता, रियासत जम्मू से जेहलम आए लोग, असबाब से लदे हुए बैल या गधे, चुंगी पर ठहरी हुई अनगिनत लारियाँ और नदी के किनारे बँधे हुए लम्बे-लम्बे मछुए एक छोटे-से बन्दरगाह का नज़ारा पेश करते हैं। इसी भीड़-भाड़ में मैंने थानेदार साहब, तहसीलदार साहब और कम उम्र बदसूरत औरत को भी खो दिया। मेरा असबाब थोड़ा-सा था इसलिए चुंगीवालों से जल्द छुटकारा मिल गया और एक छोटे-से कुली पर असबाब लादकर मैं नदी की ओर चला। जैसा कि मैंने पहले कहा, गाटियालियाँ तक सफर अत्यन्त कष्टप्रद रहा। सिर में दर्द भी पैदा हो गया था, किन्तु अब जैसे-जैसे नदी के फैले पानी से ठण्डी हवा के झोंके आने लगे, तबीयत साफ़ होती गई। और जब नदी के किनारे पहुँचा हूँ तो यह महसूस हो रहा था कि अभी-अभी नहाकर उठा हूँ! लम्बी-लम्बी दरियाई घास में, जो किनारे पर उगी हुई थी, एक भीनी सुगन्ध थी, जिसने बेसुध नथुनों को सचेत कर दिया। जहाँ तक निगाह काम करती थी, पानी ही पानी दिखाई पड़ता, जिस पर चलते हुए बड़े-बड़े मछुए और छोटी किश्तियाँ, मल्लाहों की कोलाहलमय रागिनियाँ और लम्बी-लम्बी डाँडों के पानी को चीरने की मद्धम आवाज़ें एक मादक दृश्य प्रस्तुत कर रही थीं।

छोटे-से दुबले-पतले कुली ने काउ के एक छोटे-से पेड़ के नीचे मेरा असबाब उतारकर रखा। उसी पेड़ की छिदरी-छिदरी छाँव में एक लड़का और एक लड़की बहुत-सा असबाब लिए बैठे थे। शायद किश्ती का इन्तज़ार कर रहे थे। मैंने कुली को जेब से दुअन्नी निकालकर दी और उससे पूछा, ''तुम्हारा नाम क्या है?''

''अब्दुल्ला।''

''तो अब्दुल्ला, हमें कहीं से किश्ती का इन्तज़ाम कर दो। देखो, ज़रूर।''

अब्दुल्ला मुस्कराकर कहने लगा, ''साहब, एक किश्ती तो मेरी अपनी ही है। ठहरिए, मैं अपने छोटे भाई को बुलवाता हूँ। हम दोनों आपको पार ले चलेंगे। साढ़े तीन रुपए किराया होगा।''

जब अब्दुल्ला चला गया तो मैंने ज़मीन पर बैठकर इधर-उधर देखा। रेत के बड़े-बड़े टीले, काउ और तुंग के पेड़ों के झुण्ड, उड़ते हुए माहीख़ोर। फिर मैंने अपने साथियों की तरफ ध्यान

दिया। लड़की पीठ मोड़े नदी की ओर मुँह किए बैठी थी। वह एक गहरे रंग की हरी साड़ी पहने हुए थी, जिसका किनारा सुनहरा था। लड़का मेरी तरफ देख रहा था। उसने भूरे रंग का कोट और एक खाकी नेकर पहन रखी थी। गले में खुशरंग टाई भी थी। मुझे अपनी ओर मुड़ते देखकर कहने लगा, ''आप कहाँ जा रहे हैं?''

''जेहलम के पार एक गाँव है, वहाँ मेरा घर है, बस वहीं जा रहा हूँ। और आप?'' मैंने सवालिया निगाहों से लड़की की ओर देखते हुए पूछा।

लड़के ने उत्तर दिया, ''हम लाहौर जा रहे हैं। मैं तो जम्मू में पढ़ रहा हूँ, पर यह...मेरी बहन है। लाहौर में एफ़.ए. में पढ़ रही है। इन्हें पहुँचाने जा रहा हूँ। इस सफर में बहुत परेशानी उठानी पड़ती है। अब यहाँ मल्लाह बहुत तंग करते हैं। आधे घण्टे से बैठे हैं कि कोई छोटी-सी किश्ती हमारे लिए अलग मिल जाए तो उसमें सवार होकर पार चले जाएँ। पर यह मल्लाह लोग कहते हैं कि कोई छोटी किश्ती सिरे से है ही नहीं। सब बड़ी-बड़ी किश्तियाँ हैं, जिनका किराया भी बहुत माँगते हैं। आठ रुपये, दस रुपये, यह तो दिन-दहाड़े डाका है। सचमुच कितनी परेशानी उठानी पड़ती है।''

मैंने उसे तसल्ली देते हुए कहा, ''आप घबराइए नहीं, अभी किश्ती मिल जाएगी। मैं सब इन्तज़ाम किए देता हूँ। और हम सब आराम से जेहलम पार पहुँच जाएँगे।''

लड़की ने मेरी तरफ देखा। अगर मैं यह कह दूँ कि उस जैसा सुन्दर और भोला-भाला चेहरा मैंने आज तक नहीं देखा तो यह वास्तव में एक झूठ होगा। लेकिन यह कह देने में मुझे ज़रा भी संकोच नहीं कि उसके चेहरे में कुछ ऐसा विचित्र आकर्षण और मोहनी थी जिसने मुझे एकदम मुग्ध कर लिया। केवल एक क्षण के लिए उसने मेरी ओर देखा और फिर उसकी घनी-घनी पलकें उसके गालों पर झुक गईं। वह कश्मीर की अलौकिक सुन्दरता का एक अद्भुत नमूना थी। आकर्षक नख-शिख, सुडौल शरीर, मनोहर रंग। किन्तु जिस चीज़ ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह उसकी ज़ाहिरा खूबसूरती से बढ़कर उसकी निगाहों की निराशा और उदासी थी, जिसे मैं एक झलक में ही पा गया। ओफ, वे उदासी की गहराइयाँ! एक क्षण में मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो मैं बिजली की-सी तीव्रता के साथ किसी गहरे समुद्र में डूबा जा रहा हूँ। फिर एकाएक मुझे ठोकर-सी लगी और मैंने अपने-आपको किनारे पर पाया। कितना विचित्र अनुभव था। किन्तु यह अनुभव केवल एक क्षण तक ही रहा। दूसरे क्षण वह जेहलम के फैले हुए पानी की ओर जिज्ञासु दृष्टि से देख रही थी। अब उसका चेहरा स्पष्ट और भोला-भाला था। हर प्रकार की भावनाओं से ख़ाली। मेरे हृदय में एक विचित्र व्याकुलता उत्पन्न हो गई।

इतने में और दो मुसाफिर पेड़ के नीचे आकर बैठ गए। पहले एक बूढ़ा आदमी, श्वेत बालों वाला, लाठी टेकता हुआ आया और 'राम-राम' करता हुआ मेरे निकट बैठ गया। फिर बच्चा उठाए हुए वही कम उम्र की बदसूरत औरत दिखाई पड़ी। उसके साथ एक कुली ट्रंक और गठरी उठाए हुए था। वह औरत भी लड़की के पास जाकर बैठ गई और छोटा बच्चा हरी साड़ी के

पल्लू को खींचने लगा।

थोड़ी देर के बाद अब्दुल्ला भी आ गया और कुछ मिनटों के बाद उसका भाई एक किश्ती किनारे पर ले आया। अब्दुल्ला ने मुझसे मुस्कराकर कहा, ''चलिए, किश्ती में बैठिए।''

बूढ़ा आदमी उसको सम्बोधित करके बोला, ''मुझे भी ले चलो बाबा, राम तुम्हारा भला करे।''

बदसूरत औरत भी उठ खड़ी हुई। कहने लगी, ''अगर आप बुरा न मानें तो मैं भी इस किश्ती में बैठ जाऊँ। मुझे आज गुजराँवाला पहुँचना है। और अगर यह गाड़ी न मिली तो फिर...अब शाम भी होती जा रही है, और मैं अकेली हूँ।''

हम सब किश्ती में जाकर बैठ गए। कुलियों ने माल-असबाब किश्ती में क़रीने से रख दिया।

अब्दुल्ला और उसके भाई ने आस्तीनें ऊपर चढ़ा लीं और एक-एक डण्डा हाथ में लेकर किश्ती के दोनों सिरों पर खड़े हो गए।

अल्लाह का नाम लेकर किश्ती चली। अब्दुल्ला ने गाना शुरु किया–

जिस दा नां लैंदियाँ बेड़ा पार वे!
डाची वालिया मोड़ मुहार वे!

अब्दुल्ला ने रुककर पूछा, ''आपको मेरे गाने पर कोई एतराज़ तो नहीं?''

लड़की ने जल्दी से कहा, ''नहीं, नहीं, ज़रूर गाओ, तुम्हारी आवाज़ बहुत अच्छी है।''

अब्दुल्ला ने फिर गाना शुरु किया। वही 'डाची' का पुराना गीत जिसे गाने के लिए सोज़ चाहिए, साज़ नहीं।

एक सांडनी-सवार को सहरा में से गुज़रते देखकर एक उदास सुन्दरी, जो अपने प्रेमी की तलाश में परेशान है, उसे रुक जाने को कहती है और फिर उससे प्रार्थना करती है कि तू मुझे सांडनी पर बैठाकर मेरे बिछुड़े हुए प्रेमी से मिला दे–

डाची वालिया मोड़ मुहार वे!
डाची वालिया लै चल नाल वे!

लड़के ने धीरे-से कहा, ''ज़ालिम बहुत अच्छा गाता है, क्या सुरीला गला है! मुझे गाने का बहुत शौक है, ज़रा सुनो तो...''

मैंने लड़की की तरफ देखा। वह अपने भाई के कन्धों से सिर लगाए एक तरफ बैठी थी। धीरे-से उसने आँखें बन्द कर लीं। उसके होंठों पर एक अजीब निराशापूर्ण मुसकराहट आ गई। बहुत धीरे-से उसने अपने बाज़ू छाती पर बाँध लिए और टाँगे फैलाकर सीट पर लेट गई–इस तरह कि मैं उसके आधे चेहरे को देख सकता था, उसके खूबसूरत हाथों को, नाज़ुक टखनों को।

मेरी डाची दे गल विच टल्लियाँ!
मैं ताँ माही नूँ मनावन चल्लियाँ!

अब्दुल्ला की सोज़-भरी आवाज़ ने मेरी भावनाओं की सिमटी हुई दुनिया में हलचल पैदा कर दी। मेरा दिल एक अजीब दर्द की आतुरता के मज़े लेने लगा। यह कैसी टीस थी, हल्की, मीठी–ऐसा मालूम होता था कि गीत की हर लय में किसी विरह की मारी सुन्दरी की रूह खिंची चली आ रही हे, या जेहलम नदी का फैला हुआ पानी एक सहरा है जिसमें हमारी किश्ती 'डाची' बनी हुई प्रेमी की तलाश में जा रही है–रूठे हुए प्रेमी को मनाने के लिए।

लड़की ने चुपके-से साड़ी के आँचल से अपने आँसू पोंछे। उसके भाई ने नहीं देखा लेकिन मैंने देख लिया। क्या डाची के सुन्दर गीत ने लड़की के दिल में प्रेम की दबी हुई आग को भड़का दिया था? नहीं तो ये आँसू कैसे? मेरा दिल इस भेद को जानने के लिए बेताब हो गया। वह किस बिछड़े प्रेमी की याद में रो रही थी? मैंने चाहा कि मैं गुलाब की नर्म नाज़ुक पंखड़ियों से उसके आँसू पोंछ डालूँ और उससे पूछूँ, ''बता हे सुन्दरी! तुझे क्या ग़म है?''

इसके बजाय मैंने उस बदसूरत औरत की निगाहें अपने चेहरे पर जमी हुई देखीं। मुझे देखकर उसने लजाकर अपनी आँखें नीची कर लीं और अपने बच्चे पर झुक गई।

छलक...छलक...छलक...छलक!

किश्ती भागी जा रही थी, डाँडें बारी-बारी हिल रहे थे। पश्चिम में सूरज डूब रहा था, नदी में डूब रहा था। नदी की खामोश सतह पर एक अजीब, नाज़ुक, निराली जादू-भरी रोशनी फैल गई थी। मैंने समझा यह सूर्यास्त नहीं, प्रभात का प्रारम्भ है; पश्चिम नहीं पूर्व है; प्रकाश का महास्रोत है; हम अमर इन्सान हैं जो इस कभी न डूबने वाली किश्ती पर सवार होकर अपने प्रेमी से मिलने जा रहे हैं, अपने अमर प्रेमी से!

मैं ताँ माही नूँ मनावन चल्लियाँ!

चप...चप...चप...चप!

किश्ती भागी जा रही थी।

शाम हो गई। अँधेरा बढ़ता गया, अब्दुल्ला खामोश हो गया। फिर एक मनोहर ढंग से सफेद, दूध जैसी बेदाग़ चाँदनी खिल गई और मुझे डल में तैरते हुए कमल के फूल याद आ गए। किश्ती के चारों तरफ दूर-दूर तक पानी की हल्की टूटती हुई लहरों पर ऐसा मालूम होता था कि कमल के लाखों फूल खिल गए हैं।

बूढ़ा धीरे-धीरे 'राम-राम' जप रहा था। बदसूरत औरत चोर-निगाहों से कभी मुझे, कभी खामोश लेटी हुई लड़की को देख लेती थी। लड़के ने एक-दो बार अपनी बहन की तरफ देखा, और फिर मुझको सम्बोधित कर कहा, ''बेचारी श्यामा सफ़र की थकान से चूर होकर आखिर सो गई है। कितना परेशानी-भरा सफ़र है!''

क्या वह सचमुच सो रही थी या आँखें बन्द किए कुछ सोच रही थी? वह बिलकुल बेसुध, अचेत, एक संगमरमरी मूर्ति के समान पड़ी थी, या शायद वह किसी सपने की ठण्डी छाँव में सितारों की कँपकँपाती हुई असीम, अनन्त दुनिया में अपने प्रेमी से मिल रही थी, या फिर उसकी

स्वच्छन्द आत्मा चाँद की किरणों में भटकती हुई किसी को तलाश रही थी। हाँ, मगर किसको?

आखिर एक लम्बे समय के बाद इस लम्बी खामोशी को अब्दुल्ला ने तोड़ दिया, ''लो, वह किनारा आ गया।'' उसने डांड को ज़ोर-ज़ोर से हिलाते हुए कहा।

किनारे पर पहुँचकर मैंने लड़के से कहा, ''आप जाकर ताँगा ठीक करें, मैं यहाँ कुलियों का इन्तज़ाम करता हूँ।''

ताँगेवालों का अड्डा कोई फ़र्लांग-भर दूर था। लड़का ताँगे का इन्तज़ाम करने गया। मैंने अब्दुल्ला से कहा, ''ज़रा कहीं से कुलियों को तो बुला दो।''

अब्दुल्ला कहने लगा, ''अब इस वक्त यहाँ नदी के किनारे कुली कहाँ से आएँगे?''

''तो फिर अब क्या किया जाए?''

''मेरी समझ में तो यही आता है कि हम दोनों भाई दो-तीन फेरे लगाकर आपका असबाब ताँगे पर रख दें। चार आने फ़ी फेरा लेंगे।''

''अच्छा, यों ही सही। उठाओ असबाब और इनको भी'' बदसूरत औरत की तरफ इशारा करके मैंने कहा, ''अड्डे पर ले चलो।''

अब्दुल्ला के आखिरी फेरे पर मैंने किश्ती में सोई हुई लड़की को जगा दिया, ''उठिए, अब तो जेहलम का दूसरा किनारा भी आ गया।''

मेरी ज़बान से पहला शब्द सुनकर ही वह उठ खड़ी हुई। वह अवश्य ही सो रही थी। चाँदनी रात में उसका रंग केशर के फूल की तरह पीला पड़ गया था, और होंठों पर वही निराशा-भरी मुसकराहट थी।

मैंने बटुए से एक रुपया निकालकर कहा, ''एक रुपये की रेज़गारी होगी?''

उसने हैंड-बैग खोलकर पैसे निकाले और मुझे दे दिए। वे नर्म व नाज़ुक उँगलियाँ बर्फ की तरह ठण्डी थीं।

मैंने अब्दुल्ला को इनाम दिया। उसने झुककर हमको सलाम किया और फिर हमारी तरफ पीठ मोड़कर किश्ती में बैठ गया।

हम खामोश चले जा रहे थे। हमारे आगे बूढ़ा लाठी टेकता जा रहा था। चन्द कदम चलकर मैंने श्यामा से हिम्मत करके पूछा, ''आप किश्ती में रो रही थीं, क्यों?''

वह खामोश चलती गई, सिर झुकाए हुए।

मैंने फिर कहा, ''विश्वास कीजिए, मैंने सच्चे दिल से सवाल किया है, मैं दिल से चाहता हूँ कि आप अपना दु:ख मुझसे कह सकें और मैं आपके किसी काम आ सकूँ। इसमें कोई हर्ज है?''

उसने भीगी आँखों से मेरी तरफ देखा। वह कुछ कहना चाहती थी कि एकाएक कुछ सुनकर वह एक हल्की-सी चीख मारकर ठिठक गई। वह गिरने को थी कि मैंने उसे एक बाज़ू से

थामकर सहारा दिया। अब्दुल्ला चाँद की ओर मुँह किए गा रहा था–

साडी डाची दे गल विच ढोलना
झूठे सजनाँ दे नाल की बोलना
डाचीवालिया मोड़ीं...

आवाज़, ऐसा मालूम होता था कि दूर पर जेहलम के फैले हुए पानी पर चाँद की जादू बरसाती किरणों पर काँपती हुई आ रही है। वर्णन-शैली में बला की शोख़ी थी और शब्दों में एक असीम व्यंग्य, जो दिल को खोद डालता था। मैंने लड़की की तरफ देखा। वह काँप रही थी और जल्द कदम उठाने की कोशिश कर रही थी। शायद वह उस करुण गीत के शक्तिशाली तूफ़ान से भागना चाहती थी, वह तूफ़ान जो उसकी व्याकुल आत्मा के पीछे भाग रहा था।

शेष रास्ता हमने चुपचाप तय किया।

जब मैं उन्हें ताँगों पर सवार कर चुका तो लड़के ने हाथ मिलाते हुए कहा, ''धन्यवाद, बहुत-बहुत धन्यवाद। हमने आपको बहुत कष्ट दिया–क्या आपका गाँव यहाँ से नज़दीक है?...''

''बस कोई तीन-चार मील होगा, वह सीधी पगडण्डी जा रही है...पैदल ही जाना होगा।''

बदसूरत औरत ने मेरी तरफ देखकर हाथ जोड़े और फिर सिर झुका लिया।

मैंने हाथ जोड़कर सिर झुकाया। दो बार, एक बार बदसूरत औरत को देखकर और दूसरी बार लड़की को देखकर। लड़की ने मेरी तरफ अस्पष्ट ख़ुमारी-भरी, उदास निगाहों से देखा। वे निगाहें शायद खुलकर दिल का राज़ कह देना चाहती थीं, पर कामयाब न हो सकीं। उन आँखों में एक हल्की-सी चमक पैदा भी हुई, लेकिन फिर तुरन्त ही गुम हो गई। जैसे कोई सुन्दर कंकड़ समुद्र के गहरे नीले पानी में खो जाए। उसका दायाँ बाज़ू थोड़ा-सा ऊपर उठा, फिर नीचे गिर गया। चूड़ियों की झंकार पैदा भी हुई और फिर एक क्षण में काँपती हुई कहीं विलीन हो गई–जैसे आसमान से कोई तारा टूटे और वायुमण्डल में घुल जाए।–अब वह नज़र नीचे किए साड़ी का पल्लू ठीक कर रही थी।

''गुड बाई,'' मैंने जल्दी से कहा। ताँगा चलने लगा। लड़के ने ज़ोर से हाथ हिलाते हुए कहा, ''गुड बाय।''

सीधी, खेतों के बीचोंबीच पगडण्डी जा रही थी। आकाश पर सितारों के बीच भी इसी तरह एक पगडण्डी बनी हुई थी...यह सफ़र कब शुरु हुआ?–मैं सोचने लगा–ये दोनों पगडण्डियाँ किधर जा रही हैं?...क्या यह सफ़र कभी खत्म होगा?

दो फर्लांग लम्बी सड़क

कचहरी से लेकर लॉ कालिज तक बस यही कोई दो फ़र्लांग लम्बी सड़क होगी। प्रतिदिन मुझे इसी सड़क पर से गुज़रना होता है–कभी पैदल, कभी साइकिल पर। सड़क के दोनों ओर शीशम के सूखे-सूखे, उदास से वृक्ष खड़े हैं। इनमें न सुन्दरता है, न छाँव। सख्त खुरदरे तने और शाखाओं पर गिद्धों के झुण्ड हैं और सड़क साफ, सीधी और सख्त है। पूरे नौ वर्ष से मैं इस पर चल रहा हूँ। न इसमें कभी कोई गढ़ा देखा है, न कोई छेद। सख्त-सख्त पत्थरों को कूट-कूटकर यह सड़क तैयार की गई और अब इस पर कोलतार भी बिछी हुई है जिसकी विचित्र प्रकार की दुर्गन्ध गर्मियों में तबीयत को परेशान कर देती है।

सड़कें तो मैंने बहुत-सी देखी-भाली हैं। लम्बी-लम्बी, चौड़ी-चौड़ी सड़कें, बुरादे से ढँपी हुई सड़कें जिन पर सुर्ख बजरी बिछी हुई थी। सड़कें, जिनके गिर्द शमशाद के वृक्ष खड़े थे। सड़कें...परन्तु नाम गिनवाने से क्या लाभ? ऐसे तो अनगिनत सड़कें देखी होंगी, परन्तु जितनी अच्छी तरह मैं इस सड़क को जानता हूँ, अपने किसी घनिष्ठ मित्र को भी नहीं जानता। पूरे नौ वर्ष से मैं इसे जानता हूँ और प्रतिदिन अपने घर से, जो कचहरियों के पास ही है, उठकर दफ्तर जाता हूँ जो लॉ कॉलिज के पास ही है। बस, यही दो फ़र्लांग लम्बी सड़क...प्रतिदिन, सुबह और शाम कचहरियों से लेकर लॉ कॉलिज के अन्तिम दरवाज़े तक...कभी साइकिल पर और कभी पैदल।

इसका रंग कभी नहीं बदलता। इसकी सूरत में तबदीली नहीं आती। इसकी सूरत में पूर्ववत् रूखापन मौजूद है जैसे कह रही हो–मुझे किसी की क्या परवाह है? और यह है भी सच, उसे किसी की परवाह क्यों हो? सैकड़ों, हज़ारों लोग, घोड़ागाड़ियाँ, मोटरें इस पर से प्रतिदिन गुज़र जाती हैं और पीछे कोई चिह्न बाकी नहीं रहता। इसका हल्का नीला और साँवला स्तर इसी प्रकार सख्त और पथरीला है जैसे पहले दिन एक यूरेशियन ठेकेदार ने उसे बनाया था।

यह क्या सोचती है? या शायद यह सोचती ही नहीं। मेरे सामने ही नौ वर्षों में इसने क्या-क्या घटनाएँ देखी हैं। प्रतिदिन, प्रतिक्षण यह क्या-क्या नये तमाशे नहीं देखती, परन्तु इसे किसी ने मुस्कराते नहीं देखा, न रोते ही। इसकी पथरीली छाती में कभी एक छिद्र भी उत्पन्न नहीं हुआ।

''अरे बाबू! मुहताज़, ग़रीब फकीर पर दया कर जाओ रे बाबा। अरे बाबू,भगवान के लिए एक पैसा देते जाओ रे बाबा...अरे कोई भगवान का प्यारा नहीं। साहब जी, मेरे नन्हे-नन्हे बच्चे

बिलख रहे हैं। अरे कोई तो दया करो इन यतीमों पर।''

बीसियों भिखारी इस सड़क के किनारे बैठे रहते हैं। कोई अन्धा तो कोई लुंज। किसी की टाँग पर एक खतरनाक घाव है तो कोई निर्धन स्त्री दो-तीन छोटे-छोटे बच्चे गोद में लिए अभिलाषा-भरी नज़रों से पथिकों की ओर देख रही है। कोई पैसा देता है, कोई तेवर चढ़ाए निकल जाता है। कोई गालियाँ दे रहा है, ''हरामज़ादे, मुस्टंडे, काम नहीं करते, भीख माँगते हैं।''

काम, बेकारी, भीख।

दो लड़के साइकिल पर सवार हँसते हुए जा रहे हैं। एक बूढ़ा अमीर अपनी शानदार फ़िटन में बैठा सड़क पर बैठी हुई भिखारिन की ओर देख रहा है। एक मरियल-सा कुत्ता फ़िटन के पहियों के नीचे दब गया है। उसकी पसली की हड्डियाँ टूट गई हैं। रक्त बह रहा है। उसकी आँखों की उदासी, विवशता, उसकी हल्की-हल्की दर्द-भरी टाँय-टाँय किसी को भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। बूढ़ा अमीर अब गदेलों पर झुका हुआ उस स्त्री की ओर देख रहा है जो एक सुन्दर काले रंग की साड़ी पहने अपने नौकर के साथ मुस्करा-मुस्कराकर बातें करती जा रही हैं। उसकी काली साड़ी का चमकीला हाशिया बूढ़े की लालसापूर्ण आँखों में चाँद की किरण की तरह चमक रहा है।

फिर कभी सड़क सुनसान हो जाती है। केवल एक जगह एक शीशम के वृक्ष की छिदरी छाँव में एक ताँगेवाला घोड़े को सुस्ता रहा है। गिद्ध धूप में शाखाओं पर बैठे ऊँघ रहे हैं। पुलिस का सिपाही आता है–एक ज़ोर की सीटी–ओ ताँगेवाले, यहाँ खड़ा क्या कर रहा है? क्या नाम है तेरा? करूँ चालान? 'हुज़ूर!' हुज़ूर का बच्चा, चल थाने! 'हुज़ूर!'...यह थोड़ा है...ख़ैर जा, तुझे छोड़ता हूँ।

ताँगेवाला ताँगे को सरपट दौड़ाए लिए जा रहा है। रास्ते में एक 'गोरा' आ रहा है। सिर पर टेढ़ी टोपी, हाथ में बेंत की छड़ी, गालों पर पसीना, होंठों पर किसी डांस का सुर...

''खड़ा कर दो, कैण्टोनमेंट।''

''आठ आने, साहब।''

''वैल, छ: आना।''

''नहीं, साहब।''

''क्या बकटा है? टुम...''

ताँगेवाले को मारते-मारते बेंत की छड़ी टूट जाती है। फिर ताँगेवाले का चमड़े का हण्टर काम आता है। लोग एकत्रित हो रहे हैं। पुलिस का सिपाही भी पहुँच गया है, ''हरामज़ादे, साहब बहादुर से माफ़ी माँगो।'' ताँगेवाला अपनी मैली पगड़ी के पल्लू से आँसू पोंछ रहा है। लोग बिखर जाते हैं।

अब सड़क फिर सुनसान है।

शाम के धुंधलके में बिजली के लट्टू चमकने लगे। मैंने देखा कि कचहरियों के निकट कुछ मज़दूर–बाल बिखेरे...मैले वस्त्र पहने आपस में बातें कर रहे हैं।

''भैया, भरती हो गया?''

''हाँ।''

''वेतन तो अच्छा मिलता होगा?''

''हाँ।''

''बढ़ियो के लिए कमा लाएगा। पहली बीवी तो एक फटी साड़ी में रहती थी।''

''सुना है जंग शुरु होने वाली है।''

''कब शुरु होगी?''

''कब? इसका तो पता नहीं–मगर हम ग़रीब ही तो मारे जाएँगे।''

''कौन जाने गरीब मारे जाएँगे कि अमीर।''

''नन्हा कैसा है?''

''बुखार नहीं टलता, क्या करें? इधर जेब में पैसे नहीं हैं, उधर हकीम से दवा...''

''भरती हो जाओ।''

''सोच रहे हैं।''

''राम-राम।''

''राम-राम।''

फटी हुई धोतियाँ, नंगे पाँव, थके हुए कदम–यह कैसे लोग हैं। ये न तो स्वाधीनता चाहते हैं, न स्वतन्त्रता। ये कैसी विचित्र बातें हैं–पेट, भूख, रोग, पैसे, हकीम की दवा, जंग।

लट्टुओं का पीला-पीला प्रकाश सड़क पर पड़ रहा है।

दो औरतें–एक बूढ़ी, एक जवान, उपलों के टोकरे उठाए, खच्चरों की तरह हाँफती हुई गुज़र रही हैं। जवान औरत की चाल तेज़ है।

''बेटी! ज़रा ठहर तो।'' बूढ़ी औरत के चेहरे पर झुर्रियों का जाल है। उसकी चाल मध्यम है और स्वर में विवशता।

''बेटी! ज़रा ठहर, मैं थक गई हूँ...मेरे भगवान !''

''माँ, अभी घर जाकर रोटी पकानी है, तू बावली हुई है।''

''अच्छा बेटी, अच्छा बेटी।''

बूढ़ी औरत जवान औरत के पीछे भागती हुई जा रही है। बोझ के कारण उसकी टाँगें काँप

रही हैं। उसके पाँव डगमगा रहे हैं।

वह दशाब्दियों से इसी सड़क पर चल रही है। उपलों का बोझ उठाए हुए, कोई उसका बोझ हल्का नहीं करता। कोई उसे क्षण भर के लिए सुस्ताने नहीं देता। वह भागी हुई जा रही है। उसकी टाँगें काँप रही हैं। उसके पाँव डगमगा रहे हैं। उसकी झुर्रियों में चिन्ता है और भूख तथा दशाब्दियों की पराधीनता।

तीन-चार सुन्दर युवतियाँ भड़कीली साड़ियाँ पहने, बाँहों में बाँहें डाले चली जा रही हैं।

''बहन, आज शिमला पहाड़ी की सैर करें।''

''बहन, आज लारेंस गार्डन चलें।''

''बहन, आज अनारकली।''

''रीगल?''

''शट-अप यू फूल।''

आज सड़क पर लाल हलवान बिछा है। आर-पार झण्डियाँ लगी हैं। यहाँ-वहाँ पुलिस के सिपाही खड़े हैं। किसी बड़े आदमी का आगमन है तभी तो पाठशालाओं के छोटे-छोटे लड़के नीली पगड़ियाँ बाँधे सड़क के दोनों ओर पंक्तियों में खड़े हैं। उनके हाथों में छोटी-छोटी झण्डियाँ हैं। उनके होंठों पर पपड़ियाँ जम गई हैं। उनके चेहरे धूप की गर्मी से तमतमा उठे हैं, इसी प्रकार खड़े-खड़े वे डेढ़ घण्टे से बड़े आदमी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब वे पहले-पहल यहाँ सड़क पर खड़े हुए थे तो हँस-हँसकर बातें कर रहे थे, अब सब चुप हैं। कुछ लड़के एक वृक्ष की छाँव में बैठ गए थे। अब अध्यापक उन्हें कान से पकड़कर उठा रहे हैं। शफ़ी की पगड़ी खुल गई थी, अध्यापक उसे घूर कर कह रहे हैं, ''ओ शफ़ी, पगड़ी ठीक कर।'' प्यारेलाल की सलवार उसके पाँव में अटक गई और नाड़ा जूतियों तक लटक रहा है, ''तुम्हें कितनी बार समझाया है, प्यारेलाल !''

''मास्टर जी, पानी!''

''पानी कहाँ से लाऊँ! यह भी तुमने अपना घर समझ रखा है क्या? दो-तीन मिनट और इन्तज़ार करो। बस, अभी छुट्टी हुआ चाहती है।''

दो मिनट, तीन मिनट, आधा घण्टा।

''मास्टरजी, पानी।''

''पानी, मास्टरजी।''

''मास्टर जी, बड़ी प्यास लगी है।''

परन्तु मास्टरजी अब उस ओर ध्यान नहीं देते। वह इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं, ''लड़को होशियार हो जाओ। देखो, झण्डियाँ इस तरह लहराना। अबे, तेरी झण्डी कहाँ है? क़तार से बाहर हो जा, बदमाश कहीं का।...सवारी आ रही है।''

मोटर-साइकिलों की फट-फट, बैण्ड का शोर, पतली और छोटी झण्डियाँ बेदिली से हिलती हुईं–सूखे हुए कण्ठ से मरे-मरे-से नारे...

बड़ा आदमी सड़क पर से गुज़र गया। लड़कों की जान में जान आ गई। अब वे उछल-उछलकर झण्डियाँ तोड़ रहे हैं। शोर मचा रहे हैं।

खोंचेवालों की आवाजें...रेवड़ियाँ, गर्म चने, हलवा-पूरी, नान कबाब।

एक खोंचेवाला एक तुर्रे वाले बाबू से झगड़ रहा है, ''आपने मेरा खोंचा उलट दिया। मैं आपको नहीं जाने दूँगा। मेरा तीन रुपये का नुकसान हो गया। मैं गरीब आदमी हूँ। मेरा नुकसान पूरा कर दीजिए तो मैं जाने दूँगा।''

सुबह के हल्के-हल्के प्रकाश में भंगी सड़क पर झाड़ू दे रहा है। उसके मुँह और नाक पर कपड़ा बँधा हुआ है–जैसे बैलों के मुँह पर, जब वे कोल्हू चलाते हैं, वह धूल में अटा हुआ है और झाड़ू दिए जा रहा है।

म्युनिसिपैलिटी का पानीवाला छकड़ा धीरे-धीरे सड़क पर छिड़काव कर रहा है। छकड़े के आगे जुते हुए दोनों बैलों की गर्दनों पर घाव हो गए हैं। छकड़ेवाला ठिठुरता हुआ कोई गीत गाने की कोशिश कर रहा है। बैलों की आँखें देख रही हैं कि अभी सड़क का कितना भाग बाकी है।

सड़क के किनारे एक बूढ़ा भिखारी मरा पड़ा है। उसके मैले दाँत होंठों के भीतर धँस गए हैं। उसकी खुली हुई ज्योतिहीन आँखें आकाश की ओर ताक रही हैं।

''भगवान के लिए मुझ गरीब पर दया कर जाओ रे बाबा।''

कोई किसी पर दया नहीं करता। सड़क मौन और सुनसान है। यह सब कुछ देखती है, सुनती है, परन्तु टस-से-मस नहीं होगी। मनुष्य के मन की तरह निर्दयी और वहशी है।

अत्यन्त दुख और क्रोध की हालत में मैं प्राय: सोचता हूँ कि यदि इसे डायनामैट लगाकर उड़ा दिया जाए तो फिर क्या हो। एक धमाके के साथ इसके टुकड़े आकाश में उड़ते नज़र आएँगे। उस समय मुझे कितनी प्रसन्नता होगी, इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकता। कभी-कभी इस पर चलते मैं पागल-सा हो उठता हूँ। चाहता हूँ कि उसी दम कपड़े फाड़कर नंगा सड़क पर नाचने लगूँ और चिल्ला-चिल्लाकर कहूँ, ''मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं पागल हूँ, मुझे मनुष्यों से घृणा है–मुझे मनुष्यों से घृणा है। मुझे पागलख़ाने की दारुणता प्रदान कर दो, मैं इन सड़कों की स्वतन्त्रता नहीं चाहता।''

सड़क मौन है और सुनसान। ऊँची शाखाओं पर गिद्ध बैठे ऊँघ रहे हैं।

यह दो फ़र्लांग लम्बी सड़क है।

शहज़ादा

सुधा खूबसूरत थी न बदसूरत, बस मामूली-सी लड़की थी। साँवली रंगत, साफ़-सुथरे हाथ-पाँव, स्वभाव की ठण्डी मगर घरेलू। खाना पकाने में होशियार, सीने-पिरोने में दक्ष, पढ़ने-लिखने की शौक़ीन–मगर न सुन्दर थी, न अमीर, न चंचल। मन को लुभाने वाली कोई बात उसमें न थी। बस वह तो एक बहुत ही शर्मीली-सी और शान्त प्रकृति वाली लड़की थी। बचपन ही से अकेली खेला करती, मिट्टी की गुड़िया बनाती और उनसे बातें करती, उन्हें तिनकों की रसोई में बिठा देती और खुद अपने हाथ से खिलाती। जब कोई दूसरी लड़की उसके पास आती तो गुड़ियों से बातें करते-करते चुप हो जाती। जब कोई शरीर बच्चा उसका घरौंदा बिगाड़ देता, तो चुपचाप रोने लग जाती, रोकर खुद ही चुप हो जाती और थोड़ी देर के बाद दूसरा घरौंदा बनाने लगती।

कॉलेज में भी उसकी सहेलियाँ और मित्र बहुत कम थे। शर्मीला स्वभाव अभी तक उसके साथ चल रहा था। जैसे उसके माता-पिता की गरीबी ने बढ़ावा दे दिया हो। उसका बाप जीवनराम-नत्थूमल वाच मर्चेण्ट के यहाँ चौक की दुकान पर तीस साल से सेल्समैन चला आ रहा था। उसकी स्थिति ऐसी न थी कि वह अपनी बेटी को कॉलेज की शिक्षा दिलवा सके, इसपर भी जो उसने अपनी बेटी को कॉलेज में भेजा था तो केवल इस विचार से कि शायद इस प्रकार उसकी लड़की को कोई अच्छा पति मिल जाएगा। कभी-कभी उसके मन में यह विचार भी आता था, सम्भव है कॉलेज का कोई अच्छा लड़का ही उस पर मोहित हो जाए, मगर जब वह सुधा की सूरत देखता, झुकी हुई गर्दन, सुकड़ा हुआ सीना, खामोश निगाहें और उसके कम बोलने का अन्दाज़ा करता तो एक आह भरकर चुप हो जाता और अपना हुक्का भरकर गुड़गुड़ाने लगता।

सुधा के लिए तो कोई वर घेर-घारकर लाना होगा मगर मुसीबत यह है कि इस तरह के वर बहुत दहेज माँगते थे और उसकी हालत ऐसी न थी कि वह बहुत तो क्या थोड़ा-सा भी दहेज दे सके। विचारों के भाव में बहते-बहते उसने यह भी सोचा कि आजकल प्रेम की शादी बड़ी सस्ती रहती है। अब मालिकराम की बेटी गोपी ही को देखो–बाप हेल्थ मिनिस्ट्री में तीसरे वर्ग का क्लर्क है मगर बेटी ने एक लखपति ठेकेदार से शादी कर ली है जो उसके साथ कॉलेज में पढ़ता था। बाप क्वार्टरों में रहता है मगर लड़की एयरकण्डीशंड मोटरकार पर बैठकर अपने मैकेवालों से मिलने आती है। हाँ, मगर गोपी तो बहुत ही सुन्दर है और हमारी सुधा तो बस ऐसी है जैसी उसकी माँ...

उसके लिए तो किसी वर को घेरना ही पड़ेगा–जिस तरह सुधा की माँ और उसके रिश्तेवालों ने मुझे घेरा था।

दो-तीन जगह तो सुधा की माँ ने बात चलाई थी मगर वह बात आगे न बढ़ सकी। एक बार तो उसने गिरह इतनी मज़बूत बाँधी कि लड़का खुद घर चलकर सुधा को देखने आ गया। मगर सुधा उसे पसन्द न आई। लड़का स्वयं भी कौन-सा अच्छा था। मुआ चेचक-मारा, ठिगना-सा, उसपर हकलाता था। जामुन का-सा रंग मगर लड़की गोरी चाहता था और दहेज में एक स्कूटर माँगता था। यहाँ सुधा का बाप, एक साइकिल तक न दे सकता था, इसलिए मामला आगे चलता भी तो कैसे चलता...

मगर यह सुधा के बाप को मालूम नहीं था कि उस कुरुप ठिगने के मना करने पर सुधा कितनी खुश हुई थी। वह और उसके बाद भी, दो वर्षों में जो दो लड़के उसे देखने के लिए आए और इन्कार करके चले गए, उन सबकी सुधा कितनी दिल ही दिल में आभारी थी। वह ऊपर से जितनी शीतल थी अन्दर से उतनी ही ज्वालामय थी। यह कोई नहीं जानता था कि सुधा के विचारों की उड़ान कितनी ऊँची और विशाल है। अपनी तंग और अँधेरी दुनिया से बाहर निकलकर उसकी कल्पना कैसी-कैसी सुन्दर जगहों पर उसे ले जाती थी। इस बात को न तो उसका बाप जीवनराम जानता था, न उसकी माँ मग्घी जानती थी, कि सुधा कितनी अजीब लड़की है। वह बाहर से साधारण रंग-रूप की लड़की थी मगर उसने अपने हृदय के अन्दर एक चमकती हुई ज़िन्दगी छुपा रखी थी, जिस प्रकार गुदड़ी में लाल छुपा रहता है–और यह तो हमारी कहावत है, क्योंकि एक मैले-कुचैले बनिये को देखकर कभी भी ऐसा नहीं लगता कि इस आदमी के पास इतना धन होगा। इसीलिए तो वह लजीली थी। वह अपा भेद किसी को क्यों बताए? शायद लोग उसपर हँसेंगे और जो कुछ वह सोचती थी वह सब कितना विचित्र होता था। ये कॉलेज की सुन्दर सजीली लड़कियाँ अगर उसके रुप की मोहिनी देख लें तो धक-से रह जाएँ और ये लम्बी-लम्बी कारों वाले देवताओं की भाँति इठलाते युवक अगर उसके रॉकिट-जहाज़ देख लें तो क्या आश्चर्य में न खो जाएँ? ये मेरी ओर देखते भी नहीं, और ठीक भी है–घर की धुली सलवार और सिलवटों वाली काली फ्रॉक पहनने वाली ऐसी लड़की को वे भला क्यों देखेंगे–तो मैं भी उन्हें क्यों बताऊँगी कि मैं क्या हूँ?

''तूने कैसी लड़की जनी है?'' जीवनराम कभी-कभी गुस्से में आकर मग्घी को सुनाने लगता, ''हर वक्त चुप रहती है, हर वक्त नज़रें नीची रखती है, हर वक्त काम में जुटी रहती है। इसके मुँह पर कभी हँसी नहीं देखी। अब कपूर साहब की लड़कियों को देखो, हर वक्त फूलों की तरह महकती रहती हैं, हर वक्त घर को बाग़ बनाए रहती हैं, और एक यह सुधा है...'' जीवनराम अखबार पटककर चुप हो जाता।

मग्घी बारह आने सेर वाला चावल और चने की पतली दाल उसके सामने रखती हुई कहती, ''उन बच्चियों की बात मत करो, उन बच्चियों का बाप सुपरिटेण्डेण्ट है। चार सौ रुपये

घर लाता है। मेरी बच्ची के पास केवल दो फ्रॉकें हैं और कपूर साहब की लड़कियाँ दिन में दो सूट बदलती हैं। कभी यह भी सोचा है...''

जीवनराम दाँत पीसकर चुप हो जाता। उसके मन में अनेक प्रश्न उभरते...ये चावल इतने मोटे क्यों हैं? यह दाल इतनी पतली क्यों है? उसकी बीवी हर वक्त चुनी-खसोटी-सी क्यों नज़र आती है? उसकी बच्ची हर वक्त चुप क्यों रहती है? लोग दहेज में स्कूटर क्यों माँगते हैं? बहुत-से प्रश्न पतली दाल के चनों की तरह उसके मस्तिष्क में फुदकने लगते। मगर जब उन प्रश्नों का कोई उत्तर न मिले तो उन्हें पतली दाल की तरह ही पी जाना चाहिए।

इण्टर पास करके जीवनराम ने सुधा को कॉलेज से उठा लिया। ''मैं एफ़ोर्ड नहीं कर सकता,'' उसने अपने साथी तोताराम से कहा जो सेवामल वूल-क्लॉथ मर्चेण्ट के यहाँ नौकर था। वह बड़ी आसानी से यह भी कह सकता था कि कॉलेज में पढ़ाने की मेरी हैसियत नहीं, मगर 'हैसियत' शब्द कितना सरल और खुला हुआ है जैसे किसी ने सिर पर सात जूते मार दिए हों और 'एफ़ोर्ड' में कितनी गुँजाइश है। वैसे अपनी भाषा में कभी-कभी विदेशी और अजनबी शब्द भी प्रयोग कर लेने से कितनी बचत हो जाती है। बिल्कुल ऐसे जैसे घर में कोई अजनबी आ जाए तो घर के लड़ाई-झगड़े पर उसी वक्त परदा पड़ जाता है।

''तुम्हारी बेला तो अभी कॉलेज में पढ़ती है न?'' उसने तोताराम से पूछा।

''हाँ,'' तोताराम मन की खुशी से चहकते हुए बोला, ''अगले जाड़ों में उसकी शादी होने वाली है।''

''लड़का ढूँढ़ लिया?'' जीवनराम ने भरी हुई आवाज़ में पूछा।

''हाँ,'' तोताराम कोयल की तरह कूकते हुए बोला, ''उसने खुद ही अपना वर पसंद कर लिया–कॉलेज में। घर का बड़ा अमीर है।'' जब तोताराम चला गया तो जीवनराम ने बुरा-सा मुँह बनाया और तोताराम की पतली आवाज़ की नक़ल उतारते हुए बोला, ''उसने खुद ही अपना वर पसन्द कर लिया है–च?'' फिर ज़ोर से फर्श पर थूकते हुए बोला, ''हरामज़ादा...!''

दो वर्ष और बीत गए। सुधा अब आसिफ़अली रोड की एक फर्म में टाइपिस्ट थी। वह पहले से भी ज़्यादा शान्त, स्वाभिमानी और मेहनती हो गई थी। घर की हालत भी अच्छी हो गई थी क्योंकि सुधा घर में सौ रुपये लाती थी। ऑफिस के काम से छुट्टी पाकर वह स्टेनो का काम सीखने जाती थी। बी.ए. करने का इरादा रखती थी।

घर की हालत थोड़ी सुधरने पर जीवनराम और मग्घी ने सुधा के वर के लिए ज़्यादा भरोसे से कोशिश शुरु कर दी थी। वे सुधा की तनख्वाह में से बहुत कम खर्च करते थे और स्कूटर के लिए पैसे जमा कर रहे थे।

बहुत दिनों के बाद जीवनराम एक लड़के के माता-पिता को स्कूटर का लालच देकर घेरने में सफल हुआ। मंगनी की रक़म, शादी का दहेज, दहेज की नकदी, सारी ही आवश्यक बातें जब तय हो गईं तो मोती, जो लड़के का नाम था और वास्तव में शक्ल-सूरत में मोती की ही तरह

उजला और सुन्दर था, अपनी होनेवाली बीवी को देखने आया।

मोती ने गहरे ब्राउन रंग का ऊनी सूट पहना हुआ था। उसकी सुनहरी रंगत पर उसके काले घुँघराले बाल बहुत ही सुन्दर मालूम होते थे। उसकी कमीज़ के कफ से बाहर उसके हाथ बड़े मज़बूत और सुन्दर लगते थे और जब वह सजी-सजाई सुधा की तरफ देखकर मुस्कराया, तो अन्दर ही अन्दर उस अबोध लड़की का हृदय पिघल गया और चाय की प्याली उसके हाथों में बजने लगी और बड़ी मुश्किल से वह चाय की प्याली मोती को भेंट कर सकी।

मोती चाय पीकर और धन्यवाद देकर बड़ी नम्रता से विदा हो गया अपनी बहनों के साथ। दूसरे दिन उसकी बहनों ने कहला भेजा, ''लड़की पसन्द नहीं।'' उस रात सुधा सो न सकी। रात-भर उसकी आँखों में मोती का सुन्दर मुखड़ा और उसका बलिष्ठ शरीर डोलता रहा और रात-भर मोती के हाथों का हल्का-सा स्पर्श उसकी आत्मा को गुदगुदाता रहा।

''लड़की पसन्द नहीं, ऊँह'' मग्घी गुस्से से साग को कड़ाही में भूनते हुए बोली, ''और खुद तो बड़ा इन्द्र है! अपनी रंगत पर बड़ा इतराता है मगर पकौड़ा ऐसी नाक नहीं देखता? और अपने नीग्रो ऐसे घुँघराले बाल नहीं देखता? अपनी बहनों को नहीं देखता? एक तो भेंगी थी–सफा भेंगी, दूसरी पौडर सुर्खी की मारी, सूरत की चुहिया लगती थी। तीसरी के बाल देखे थे तुमने? जैसे बनिए की बोरी के फूसड़े। ऊँह, लड़की पसन्द नहीं...'' यह कहकर उसने इतने ज़ोर से कड़ाही में करछी चलाई जैसे वह साग के स्थान पर उसी लड़के को भून रही हो।

सुधा को ऐसा लगा कि उसके घरवालों बल्कि घर के बाहर मुहल्लेवालों और शायद ऑफिसवालों का भी विचार यह था कि सुधा कुछ अनुभव ही नहीं करती। वह ऑफिस के काम के लिए बहुत ही उचित और उपयोगी लड़की है, न किसी से प्रेम करे, न किसी को प्रेम की दावत दे। दिन-प्रतिदिन उसकी आँखें मैली, होंठ सिकुड़े हुए और चेहरा धुआँ-धुआँ होता जा रहा था। उसकी सूरत ऐसी ठण्डी और ठस् निकल आई थी कि उसे देखकर किसी बर्फ़ख़ाने का शक होने लगता था। क्लर्क आपस में कानाफूसी करते हुए कहते, ''जो आदमी सुधा से शादी करेगा, उसे पहाड़ पर जाने की ज़रूरत नहीं होगी।''

इसीलिए मोती के मना करने पर सुधा के दिल पर क्या बीती, यह किसी को मालूम न हो सका। पहली बार उसने जीवन में किसी को दिल दिया था और यह किसी को मालूम नहीं था। होता भी कैसे? और सुधा कहती भी क्या किसी से, कि जिसे मैंने चाहा वह मुझे देखने आया था और नापसन्द करके चला गया? लोग तो प्रेम में रोते हैं–वह बेचारी कुछ कह भी न सकती थी।

उस दिन ऑफिस में उसने ओवरटाइम किया और जब अँधेरा काफी बढ़ गया तो वह ऑफिस से बाहर निकली और अपने भूरे रंग का पर्स झुलाती हुई सामने के आसिफ़अली पार्क में चली गई और एक बेंच पर अकेली बैठ गई। यह पार्क दिल्ली गेट के सामने एक छोटा-सा शान्त कोना था–कुछ पेड़ थे, कुछ बेंचें थीं, कुछ घास के टुकड़े थे, और उनके चारों ओर ट्रैफिक का शोर था। मगर आज वहाँ कुछ खामोशी थी। सुधा हर रोज़ यहाँ आती थी और आध-पौन

घण्टा अकेले बैठकर सुस्ताती थी। थोड़ी देर के लिए अपने विचारों की लहरों पर दूर तक तैरती हुई निकल जाती...उसे अकेलेपन से डर न लगता था। वह उसका एकमात्र सहारा था। अँधेरे से उसे डर न लगता था। बल्कि अँधेरा उसका मित्र था। गुण्डों से उसे डर न लगता था। जाने उसके व्यक्तित्व में कौन-सी ऐसी बात थी कि गुण्डे भी उसे दूर से सूँघकर चल देते थे, कतराकर निकल जाते थे।

आज अँधेरा गहरा था, और पेड़ के नीचे गहरी खामोशी। पत्थर की बेंच भी खूब ठण्डी थी। कुछ मिनटों तक सुधा खामोशी से उस बेंच पर बैठी रही, मगर जब उसकी थकान न गई तो वह उठकर पेड़ के नीचे चली गई और तने से टेक लगाकर बैठ गई और आँखें बन्द कर लीं।

अचानक किसी ने उससे कहा, ''तुम यहाँ क्यों बैठी हो अकेली?''

सुधा ने आँखें खोलीं–सामने मोती मुस्करा रहा था। वही सुन्दर ब्राउन सूट पहने, वही सफेद दाँतों वाली जगमगाती हुई मुसकराहट लिए...उसके हाथ उतने ही सुन्दर थे...सुधा के गले में कोई चीज़ आकर रुकने लगी, वह बोल न सकी। मोती उसके पास आकर बैठ गया, इतना पास कि उसकी पतलून उसकी साड़ी से छू रही थी। उसने धीरे से पूछा, ''तुम्हें मेरे मना करने पर गुस्सा आ रहा है न?'' सुधा ने धीरे से सर हिलाया–उसकी आँखों में आँसू आ गए।

''बहुत बुरा लग रहा है न?''

सुधा ने फिर 'हाँ' के भाव से धीरे-से सर हिला दिया और आँसू छलककर उसके कपोलों पर आ गए–और वह रोने लगी...

मोती ने अपनी कोट की जेब से रूमाल निकाला और उसके आँसू पोंछते हुए बोला, ''मगर इसमें रोने की क्या बात है, हर इन्सान को अपनी पसन्द या नापसन्द का हक़ है, बताओ हक़ है कि नहीं?''

''मगर तुमने क्या देखा था मेरा, जो तुमने मुझे नापसन्द कर दिया? क्या तुमने मेरे हाथ का फुल्का खाया था? मेरा मटर-पुलाव चखा था? क्या तुमने मेरे दिल का दर्द देखा और वह बच्चा जो तुम्हें देखते ही जैसे मेरी कोख में हुमककर आ गया था? क्या तुमने मेरे चेहरे का केवल सपाटपन देखा? मेरे बच्चे की सुन्दरता क्यों नहीं देखी, तुमने वो हाथ क्यों नहीं देखे जो जीवन-भर तुम्हारे पाँव धोते और वह बटन जो मैं तुम्हारी कमीज़ में टाँकने वाली थी? तुम मेरे शरीर की रंगत से डर गए। तुमने उस स्वेटर का उजला रंग नहीं देखा जो मैं तुम्हारे लिए बुनना चाहती थी। मोती तुमने मेरी हँसी नहीं सुनी, मेरे आँसू नहीं देखे, मेरी उँगलियों के स्पर्श को अपने सुन्दर बालों में अनुभव नहीं किया। मेरे कुँवारे शरीर को अपने हाथों में काँपते नहीं देखा, तो फिर तुमने किस तरह मुझे नापसन्द कर दिया था?''

अरे...इतनी लम्बी स्पीच वह कैसे कर गई, इतना सब कुछ वह कैसे कह गई! उसे बस इतना मालूम था कि वह रो रही थी और कहती जा रही थी और उसका सिर मोती के कन्धे पर था और मोती अपनी गलती पर क्षुब्ध उसके कन्धों को धीरे-धीरे थपक रहा था।

उस दिन वह बहुत देर से घर पहुँची और जब उसकी माँ मग्घी ने उससे पूछा तो उसने बड़ी लापरवाही से कह दिया, ''ऑफिस में देर हो गई।'' फिर पर्स को ज़ोर से झल्लाकर पलंग पर फेंक दिया और इस भरोसे से खाना माँगने लगी कि उसकी माँ चौक गई, उसका बाप चौंक गया। आज सुधा की रोई हुई आँखों की तह में खुशी की एक मद्धम-सी रेखा थी, जैसे गहरे बादलों में कभी-कभी बिजली कौंध जाती है।

मग्घी ने अपने होंठ चबाकर चतुर नज़रों से अपने पति की ओर इस तरह देखा जैसे उसने अपनी बेटी का रहस्य भाँप लिया हो। जीवनराम ने भी एक पल के लिए खुशी की नज़रों से अपनी बेटी की तरफ देखा, फिर अपनी थाली की ओर आकृष्ट हो गया।

ज़रूर कोई बात है, और सुधा चूँकि स्त्री है इसलिए इस बात की तह में ज़रूर कोई मर्द है–ऐसा दोनों पति-पत्नी ने उसी क्षण सोच लिया।

आठ-दस दिनों के इस सन्देह को और बल प्राप्त हुआ जब एक लड़का अपनी माँ के साथ सुधा को देखने के लिए आया। उस लड़के की माँ मग्घी की बचपन की सहेली थी और कैसे-कैसे जतन से और किस-किस तरह के वास्ते देकर मग्घी ने उसे शीशे में उतारा था, यह केवल मग्घी ही जानती थी। इसलिए जब इस अवसर पर लड़के के स्थान पर सुधा ने शादी से इन्कार कर दिया तो पहले मग्घी अचम्भे में पड़ गई, फिर उसके दिल में वह सन्देह और बलवान होता चला गया...ज़रूर कोई है।

वह चुपके-चुपके अपनी बेटी के लिए दहेज का सामान तैयार करने लगी और जीवनराम हुक्का पीते-पीते उस दिन का इन्तज़ार करने लगा जब सुधा चुपके से आकर मग्घी से सब बातें कह देगी और बुड्ढा जीवनराम पहले तो लाल-पीली आँखें निकालकर गुस्से से सुधा को घूरेगा, 'तेरी यह हिम्मत कि तूने हमसे अलग-ही-अलग अपने लिए वर पसन्द कर लिया! निकाल दूँगा घर से और चुटिया काटकर फेंक दूँगा, हमारे खानदान की नाक काटने वाली...' फिर वह समझाने-बुझाने पर नरम पड़ जाएगा और आखिर में हुक्का गुड़गुड़ाते हुए पूछेगा, 'मगर कौन है वह?'

और अब कोई भी हो, वह सुधा के बताते ही जल्द-से-जल्द उसके हाथ पीले कर देगा। पच्चीस वर्ष की जवान लड़की को घर में रखना ठीक नहीं।

मगर दिन गुज़रते गए, महीने गुज़र गए, साल गुज़र गए, मगर सुधा ने कुछ न बताया। उसकी माँ इन्तज़ार करती रही, मगर वह जन्मजली कभी कुछ मुँह से न फूटी। थक-हारकर उसके माँ-बाप ने फिर दो-तीन वर ढूँढ़े। मगर सुधा ने साफ़ इन्कार कर दिया। अन्तिम वर जो उसके बाप ने उसके लिए ढूँढ़ा वह एक रंडवा हलवाई था जिसकी उमर चालीस को पार कर चुकी थी।

उस दिन आकाश के ढलते हुए सायों में गुलाबी उँगलियों वाली महकती हुई शाम को सुधा ने मोती को बताया, ''वे लोग आज मेरे लिए एक बुड्ढा हलवाई ढूँढ़कर लाए थे।''

''फिर?'' मोती ने हँसकर पूछा।

"मैंने साफ़ इन्कार कर दिया।"

"तूने मना क्यों कर दिया पगली, शादी कर लेती तो जीवन-भर आराम से बैठी मिठाई खाती..."

"और तुम्हें छोड़ देती?" सुधा ने प्यार-भरे गुस्से से मोती की तरफ देखकर कहा। "मैंने भी तो तुमसे शादी नहीं करी?" मोती ने उसकी कमर में हाथ डालते हुए कहा।

"तो क्या हुआ?"–सुधा उसके गाल को अपने गाल से सहलाते हुए बोली, "तुम मेरे पास तो हो...शादी से भी ज़्यादा मेरे पास...हर वक्त मेरी मुट्ठी में जैसे...।"

मोती हँसकर बोला, "हाँ, यह तो ठीक है, मैं बिल्कुल तुम्हारी मुट्ठी में हूँ, जब चाहो बुला लो।"

"शुरु में तो तुम ऐसे न थे," सुधा मोती की ओर चंचल नज़रों से देखकर बोली, "शुरु में तो तुम बड़ी मुश्किल से मेरे पास आया करते थे।"

"शुरु में ऐसा प्यार भी तो नहीं था और किसी के दिल को समझते हुए भी देर लगती है...।" मोती ने सुधा के कानों में धीरे-से कहा और सुधा की आँखें भावयुक्त होकर बन्द होने लगीं। और थोड़ी देर के बाद उसने मोती की तेज़-तेज़ साँसों की आँच अपने चेहरे पर अनुभव की और अपनी गरदन और गाल पर उसके चुम्बन बरसते हुए लगने लगे...

"कल कहाँ मिलोगे?"

"जहाँ कहो-लवर्ज़ लेन में?"

"ऊँ हूँ।"

"कोटले में घोड़ों की नुमाइश हो रही है।"

"मैं क्या घोड़े खरीदकर पालूँगी?" सुधा हँसी।

"ओल्ड हाल में साहित्यकारों की नुमाइश है।"

"न बाबा," सुधा ने कानों पर हाथ रखे।

मोती खामोश हो गया।

फिर सुधा खुद ही बोली, "कल पिक्चर देखेंगे...बसन्त सिनेमा में, मैं दो टिकट खरीद रखूँगी, तुम ठीक पौने छः बजे वहाँ पहुँच जाना।"

"टिकट मैं खरीद लूँगा।"

"नहीं...यह पिक्चर तो मैं दिखाऊँगी। तुम कोई दूसरी दिखा देना। मैं कब मना करती हूँ...मगर भूलना नहीं। कल शाम को पौने छः बजे–बसन्त सिनेमा के बसन्त सिनेमा के बाहर बहुत भीड़ थी, सुधा ने दो टिकट खरीद लिए थे और अब वह मोती का इन्तज़ार कर रही थी...उसने आध पाव चिलगोज़े और एक छटाँक किशमिश भी ले ली, सिनेमा देखते-देखते

खाने का उसे बड़ा हुकासा था।

पौने छ: हो गए, छ: हो गए, पिछले शो के छूटने के बाद लोग चले गए, नये लोग शो देखने के लिए आने लगे। मोती नहीं आया। चारों तरफ रोशनियाँ थीं, लोगों की भीड़ थी, खोंचेवालों की ऊँची आवाज़ें थीं–ताँगे, मोटरों और रिक्शाओं की रेलपेल थी और मोती भीड़ को पसन्द नहीं करता था, कोलाहल उसे भाता न था। अब वह उसकी आदत समझ गई थी। उसे खामोशी पसन्द थी, अँधेरा पसन्द था, अकेलापन उसे प्रिय था...मोती बहुत ही भावुक और निश्छल प्रेमी था।

सवा छ: के लगभग वह हाल में जा बैठी। उसने अपने साथ वाली खाली सीट पर अपना रूमाल रख दिया। चिलगोज़ों और किशमिश के लिफाफे भी। धीरे-धीरे हाल भर गया मगर मोती नहीं आया। फिर जब हाल की बत्तियाँ बुझ गईं और पिक्चर शुरु हो गई तो सुधा ने मोती का हाथ अपने हाथ पर अनुभव किया। वह अँधेरे में चुपके-से आकर साथ वाली सीट पर बैठ गया था। सुधा ने उसके हाथ को दबाते हुए कहा :

''बड़ी राह दिखाते हो!''

''सॉरी!'' मोती के स्वर में बहुत नम्रता थी।

''मैं तुम्हारे लिए चिलगोज़े और किशमिश लाई हूँ, खा लो...''

मोती ने किशमिश के कुछ दाने उठाकर अपने मुँह में डाल लिए और सुधा खुशी की एक गहरी साँस लेकर पिक्चर देखने में व्यस्त हो गई। अब बातें करने का समय नहीं था। वह अनुभव कर सकती थी कि मोती का हाथ उसके हाथ में है...वह उसके साथ कुर्सी पर बैठा है। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद वह अपना सिर उसके कन्धे पर रख देती...मोती धीरे से कहता, ''मेरे कन्धे पर सिर रख देने से तुम्हें क्या नज़र आता है, पिक्चर तो नज़र आती न होगी?''

''वो पिक्चर नज़र आती है जो इस हाल में बैठा हुआ कोई आदमी नहीं देख सकता,'' सुधा ने बड़े गहरे आनन्द से कहा।

धीरे-धीरे हर किसी को इस परिवर्तन का अनुभव हुआ। सुधा की मैली-मैली आँखें उजली होती गईं और फिर उनमें काजल लगाकर उसने दोबारा खींचा–तो वही उजली आँखें तलवार की धार के समान कँटीली हो गईं। सीने का उभार और निखरने लगा। कमर लचकने लगी और चाल में कूल्हों का मधुर बहाव शामिल होता गया। वह दिन-प्रतिदिन रूपवती और मनमोहिनी होती गई। अब उसके कपड़े अति स्वच्छ और सुथरे थे। होते अवश्य मूल्यहीन थे मगर बहुत अच्छे सिले होते थे, सुधा की हैसियत इतनी तो थी नहीं कि किसी अच्छे दर्ज़ी के यहाँ जा सके मगर स्वयं भी उसने टेलरिंग का काम सीख लिया था और बहुत कम लड़कियाँ कटाई में और नये कपड़ों के फ़ैशन और डिज़ाइन में उसकी होड़ कर सकती थीं। मगर उसने कभी किसी को नहीं बताया कि वह ये कपड़े स्वयं अपने हाथ से काटकर तैयार करती है। उसके ऑफिस की जब

से ज़्यादा भावुक और स्वाभिमानी हो गई थी। वह स्टेनो भी हो गई थी। उसने बी.ए. भी कर लिया था। उसकी तनख्वाह भी बढ़ गई थी और किताबें पढ़ने का शौक़ भी...अब वह प्रफुल्ल, शान्तिमय और आराम का जीवन बिता रही थी। कई साल से वह माँग में सिन्दूर भर रही थी और माथे पर सुहाग-बिन्दिया सजाती थी। और लोगों को यह तो मालूम न था कि उसकी शादी कहाँ हुई है और कौन उसका पति है, मगर लोग इतना अवश्य जानते थे कि कोई उसका है जिसके साथ वह अपनी शामें बिताती है। बल्कि लोग तो यहाँ तक कहते सुने गए कि जो कोई भी है उसके अपने कुछ कारण हैं जिनकी वजह से इन दोनों की शादी नहीं हुई, मगर वे दोनों रोज़ शाम के धुँधलके में मिलते हैं, और जब दुनिया सो जाती है और जब कोई किसी को नहीं देखता, जब चारों ओर निद्रादेवी का राज्य हो जाता है–उन स्वप्निल क्षणों में कोई सुधा के यहाँ आता है, धीरे-से दरवाज़ा खटखटाता है और खामोशी से अन्दर आ जाता है...लोगों ने उसे देखा नहीं था। मगर लोगों का ख्याल यही था। वे सुधा से कुछ कहते नहीं थे क्योंकि सुधा अब एक अति भावुक और स्वाभिमानी स्त्री बन चुकी थी। और जिसके माथे पर सिन्दूर का इतना बड़ा टीका जगमगाता हो, उसे कोई क्या कह सकता है!

वह शाम सुधा की चालीसवीं वर्षगाँठ की शाम थी और वह शाम कई कारणों से सुधा को कभी नहीं भूलती। सुधा मोती को मथुरा रोड के जापानी गार्डन में ले गई थी जिस पर बाग के स्थान पर किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य का सन्देह होता था। दिन के उजाले ने चोट खाई हुई स्त्री के समान अपना मुँह छुपा लिया था और रात के सलोने केश बिखेर दिए थे। धीरे-धीरे तारे चमकने लगे। आज सुधा बहुत शान्त थी, मोती भी चुपचाप-सा था...

वह अब भी उतना ही सुन्दर था जितना जवानी में था। अब वह प्रतिदिन उसी ब्राउन सूट में आकर सुधा से मिलता था क्योंकि सुधा का आदेश यही था। उसे देखकर ऐसा लगता था कि मोती पर जीवन के बहाव ने तथा समय के घाव ने अधिक निशान नहीं छोड़े; केवल उसकी कनपटियों पर सफेद बाल आ गए हैं जो उसकी सूरत को और भी गौरव और सम्मान प्रदान करते थे। और वह एक छड़ी लेकर चलता था जो उसकी पचासवीं वर्षगाँठ पर स्वयं सुधा ने उसे भेंटस्वरूप दी थी, नहीं तो इससे अधिक उसकी शक्ल-सूरत में, आचार-विचार में किसी प्रकार का अन्तर न हुआ था। वह पहले ही की तरह इतना सुन्दर और मनमोहक था कि उसे देखते ही सुधा के हृदय में खतरे की घण्टियाँ बजने लगती थीं। इतना समय बीत जाने के बाद, आज भी उसे देखकर सुधा का मन इतने ज़ोर से धक-धक करने लगता था जितना कि पहले दिन...

मोती ने धीरे पूछा, ''तुमने मुझसे शादी क्यों नहीं करी?''

''एक बार इन्कार के बाद...'' सुधा ने धीरे से कहा, ''तुमसे शादी नहीं की जा सकती थी, केवल प्रेम किया जा सकता था...अब तुम यह कैसे जान सकोगे कि जिस दिन तुमने इन्कार किया था, उसी दिन से तुम मेरे हो गए थे? इसे जानने के लिए एक स्त्री का हृदय चाहिए।''

मोती खामोश रहा, बहुत देर के बाद बोला, ''आज तुम चालीस वर्ष की हो चुकी हो, क्या तुम्हें दु:ख नहीं होता कि तुमने मुझसे शादी नहीं की?''

यह सुनकर सुधा खामोश हो गई, इतनी देर खामोश रही कि मोती को शक हुआ कहीं सुधा मन-ही-मन रो न रही हो।

''सुधा!'' उसने धीरे से उसका कन्धा हिलाया।

''सोच रही थी,'' सुधा धीरे-से बोली, ''तुमसे शादी न करके मैंने क्या खोया है...क्या कोई शाम ऐसी थी जो मैंने तुम्हारे साथ न बिताई हो? सोचो तो। कहाँ-कहाँ हम नहीं गए? जहाँ-जहाँ मैंने तुम्हें बुलाया, क्या तुम वहाँ नहीं पहुँचे? और जिस समय भी बुलाया क्या उसी समय सब काम छोड़कर तुम नहीं आए? अगर शादी का नाम सम्बन्ध है तो वह मुझे प्राप्त है...''

''फिर यह भी सोचो कि इस अटूट सम्बन्ध में मेरा-तुम्हारा एक बार भी झगड़ा नहीं हुआ। मैंने सदा तुम्हें दयालु और मुसकराते हुए पाया। अनेकों बार जब मेरे हाथों को तुम्हारे हाथों की ज़रूरत हुई, उनके स्पर्श की गरमी मैंने अपने शरीर के रोम-रोम में अनुभव की। तुम्हारे फूल मेरे बालों में रहे, तुम्हारे चुम्बन मेरे अधरों पर, तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में...क्या कोई स्त्री प्रेम में इससे अधिक पा सकती है?''

सुधा ने एक गहरी खुशी से अपने-आपको मोती की बाँहों में ढीला छोड़ दिया और फिर उसे ऐसा लगा कि मोती की दो बाँहें नहीं हैं, बल्कि चार बाँहें हैं, आठ बाँहें हैं। और वह अपने शरीर के रोम-रोम में उसकी बाँहों को अनुभव कर रही थी जो उसे भींचकर अपने सीने से लगा रही थीं। और सुधा ने अपने-आपको उन बाँहों के हवाले कर दिया और अन्दर ही अन्दर इस तरह खिलती चली गई जैसे चाँदनी के स्पर्श से कली खिलकर फूल बन जाती है। मदमाते तारों के झुरमुट में, हरी झालरों वाले पेड़ों की ओट से चाँद उभर आया था और अब चाँदनी उसके बालों में थी, उसकी आँखों में थी, उसके होंठों में थी, उसके दिल में थी और उसके रोम-रोम में रची-बसी थी–हाय मेरे मोतीचूर...मेरे मोतीचूर...मेरे मीठे लड्डू...मैं तो मर गई तेरे लिए...

थोड़ी देर के बाद जब सुधा ने आँखें खोलीं तो उसका खुशियों से भरा स्वप्निल चेहरा बता रहा था कि उससे अभी-अभी प्रेम किया गया है...

वह शाम, वह रात सुधा को कभी नहीं भूलेगी, क्योंकि वह रात पूर्ण थी और वह क्षण-पूर्ण था और उन दोनों के जीवन पूर्ण थे–जैसे समय और उमर और चाँद और आशाएँ सब एकसाथ एक गोलाकार में पूर्ण हो जाएँ और भावना की एक बूँद भी छलककर बाहर जाने की ज़रूरत अनुभव न करे। ऐसे क्षण कब किसी के जीवन में आते हैं और जब आते हैं तो इतनी गम्भीरता से अपना असर छोड़ जाते हैं कि इन्सान को लगता है...कि शायद मैं अब तक जीवित ही इसी क्षण के लिए था। शायद कुछ ऐसा ही सुधा ने उस क्षण प्रतीत किया और फिर कभी वैसा उसे न लगा–क्योंकि इस घटना के थोड़े दिनों बाद उसके ऑफिस का मैनेजर बदली हो गया और जो मैनेजर उसके स्थान पर आया, उसे सुधा बहुत नापसन्द करने लगी थी। एक तो वह बहुत

बदसूरत था। किसी समय में उसका रंग गोरा अवश्य रहा होगा, मगर अब तो पुराने ताँबे का-सा था और मोटी नाक पर लगातार शराब पीने से नीला-पीला जाल-सा फैला था। और सुधा को अपने नये मैनेजर की नाक देखकर सदा यह गुमान होता कि यह नाक नहीं, एक फफोला है जो अभी बातें करते-करते उसके सामने फट जाएगा। उसके गाल जबड़ों पर लटक गए थे, आँखों के नीचे काले गड्ढे पड़ गए थे, सिर के सारे बाल उड़ गए थे और जब वह बात करता था तो ऐसा मालूम होता था जैसे कोई बुड्ढा मेंढक किसी काई-भरे तालाब के अन्दर से बोल रहा हो। अजीब-सी घिन थी सुधा को उससे–लेकिन मुसीबत यह थी कि अब ऑफिस में इतने साल से काम करते-करते वह हेड स्टेनो बन चुकी थी और उसे दिन-भर मैनेजर के कमरे में रहना पड़ता था और इससे उसे बहुत चिढ़ लगती थी। लेकिन इससे ज़्यादा चिढ़ उसे यह सोचकर लगती थी कि उसने इस बदसूरत इन्सान को इससे पहले भी कहीं देखा है–जैसे यह सूरत जानी-पहचानी हो। मगर कहाँ? बार-बार याद करने पर भी उसको याद न आती थी।

''ऊँह, देखा होगा–इस मरघल्ले को कनॉट प्लेस में चक्कर लगाते हुए कहीं,'' सुधा अपने-आपको समझाते हुए कहती, मगर फिर कभी कहीं मैनेजर किसी फाइल को स्वयं उठाकर सुधा की मेज़ पर रखते हुए अपने हाथों से कोई ऐसी हरकत करता कि सुधा का मन बेचैन हो जाता और वह सोचने लगती, कौन था वह? किससे उसके ये आचरण मेल खाते हैं–क्या मेरे स्वर्गीय पिता से? मेरे किसी भाई से? जैसे ये आचरण मुझे याद दिलाते हों, मगर क्या ? ध्यान करने पर भी वह किसी नतीजे पर न पहुँच सकती...और अपना काम फिर करने लगती–मगर दिन-भर उसके हृदय में एक चुभन-सी होती रहती...

पहली तारीख को जब तनख्वाह बँट चुकी और लोग अपने-अपने घरों को चले गए तो नये मैनेजर ने सुधा को किसी काम से रोक लिया और उसे अपनी मेज़ के सामने कुर्सी पर बिठा लिया, फिर उसने एक कैबिनेट खोलकर उसमें से एक गिलास निकाला और ह्विस्की की बोतल और सोडा...और पहला पैग वह गटागट चढ़ा गया था। सुधा उसे आश्चर्य से देखने लगी और गुस्से से उठकर जाने लगी कि मैनेजर ने बहुत नर्मी से उसका हाथ पकड़कर उसे जाने से रोक लिया और बोला

''आज जब तुम्हारी तरक्की की फाइल मेरे सामने आई तो मुझे मालूम हुआ कि ऑफिस में सबसे पुरानी नौकर तुम ही हो। यह बड़ी खुशी की बात है।''

सुधा चुप रही।

''तुम्हारा नाम सुधा है न?'' मैनेजर बड़ी आतुरता से बोला।

सुधा बड़े आश्चर्य से उसको देखने लगी–इतने दिन से मेरे साथ काम कर रहा है, क्या यह मेरा नाम भी नहीं जानता? आखिर इसे हुआ क्या है?

''मेरा मतलब है...'' मैनेजर दूसरे पैग का एक बड़ा घूँट पीकर बोला, ''तुम वही सुधा हो न जिसके बाप का नाम जीवनराम है?''

सुधा बहुत तीखे स्वर में बोली, ''हाँ, मेरे बाप का नाम भी मेरी फाइल में लिखा है; फिर मुझसे पूछने की ज़रूरत क्या है?'' वह लगभग उठते-उठते बोली।

''बैठो, बैठो...'' मैनेजर ने फिर उसकी खुशामद करते हुए कहा।

''तुमने मुझे पहचाना नहीं?'' वह उसकी ओर ध्यान से देखते हुए कहने लगा।

''नहीं,'' वह गुस्से से बोली।

''तुम अपने पिता के साथ मुहल्ला ज़िन्दां में रहती थीं न?''

''हाँ।''

''मैं एक दिन तुम्हारे घर आया था, तुम्हें देखा भी था, तुमसे बातें भी करी थीं,'' बूढ़े मैनेजर ने मुसकराकर सुधा से कहा, ''अब तुम एक स्त्री बन चुकी हो, मगर जब तुम ऐसी न थीं, जब तुम एक साधारण-सी लड़की थीं और मैंने तुम्हें देखा था और तुमसे बातें भी करी थीं।''

''कब?...कब?...'' सुधा अधीरता से बोली।

बुड्ढा मैनेजर देर तक सुधा को देखता रहा, अन्त में धीरे से बोला, ''मैं मोती हूँ...''

सुधा सन्नाटे में आ गई।

''मैं बड़ा...मैं बड़ा अभागा था जो तुमसे शादी न करी...मैं तुम्हें अच्छी तरह से देख न सका, समझ न सका...उन कुछ पलों में कोई क्या जान सकता है...सूरत भी तो नहीं पहचान सकता, क्योंकि एक सूरत शरीर के अन्दर भी तो छुपी रहती है...मैं नौजवान था, दौलत और गोरे रंग का लालची। जो बीवी मुझे मिली, वह दौलत भी लाई थी और सफेद चमड़ी भी और उसके साथ एक घमण्डी, चिड़चिड़ा, निर्मम और निर्दयी स्वभाव भी लाई थी। कुछ ही वर्षों में मेरे पाँच बच्चे हो गए–उनमें से कितने मेरे थे मैं कह नहीं सकता, मगर लोग तरह-तरह की बातें बताते थे और मैं सुनता था। मैं सुनता था और पीता था, दूसरी औरतों के पास जाता था...फिर ज़हर–बीमारी का और शराब का और नाकामी और रूखेपन का मेरे रोम-रोम में फैल गया और मैं समय से पहले बुड्ढा हो गया, और बुझ गया...अब वह मर चुकी है, इसलिए मैं उसे कुछ न कहूँगा, और उसे कहूँ भी क्या, क़सूर तो मेरा है, मेरी इन आँखों का है जो तुम्हें न पहचान सकीं...मेरी आँखों ने एक हीरा देखा और पत्थर समझकर फेंक दिया...क्या तुम किसी तरह मुझे क्षमा नहीं कर सकतीं? क्या तुम मुझसे शादी नहीं कर सकतीं?...मेरी उमर ज़्यादा नहीं, मुझे तो प्रेम भी नहीं मिला, जिसके लिए मैं सारी उमर तरसता रहा...''

वह कहे जा रहा था और वह फटी-फटी नज़रों से उसे देख रही थी, और उसका जी चाहता था कि वह उससे कहे, अब तुम आए हो? बुड्ढे, बदसूरत और गंजे होकर–भयानक रोगों का शिकार होकर...अब तुम मुझसे शादी के लिए कह रहे हो? मगर मैंने तो अपनी सारी ज़िन्दगी तुम्हें दे दी और तुम्हें मालूम तक न हुआ कि मैंने अपनी सारी जवानी तुम्हारे विचारों में खो दी और जीवन की हर बहार तुम्हारे विचारों में गँवा दी और यौवन की हर मचलती हुई कामना

तुम्हारी एक नज़र के लिए लुटा दी। जीवन-भर मैं सड़कों पर अकेली चलती रही, तुम्हारे साये के साथ; अँधेरे पार्कों में बैठी रही, तुम्हारे विचारों के साथ; मैंने स्वयं अपने हाथ से खर्च करके तुमसे साड़ियों के उपहार लिए; तुम्हारा आभूषण पहना अपनी इच्छाओं का खून करके; सिनेमा देखा अपने साथ की सीट खाली रखकर। मेरा बाप मर गया और मेरी माँ मर गई, और मेरी कोख के बच्चे मुझे दूर ही दूर से बुलाते रहे और मैं किसी के पास न गई। तुम्हारे विचारों को अपनी धरोहर मानकर अपने कुँवारेपन के चालीस वर्ष आँखें, कान और होंठ बन्द करके तुम्हारी ही कामना में बिता दिए थे...मैं कितनी खुश थी, कितनी मगन थी? मैंने तो तुमसे कभी कुछ न माँगा–न शादी का प्यार, न सुहाग की रात, न बच्चे का प्यार। बस, केवल एक विचार, एक झलक केवल तुम्हारे प्रिय प्रतिबिम्ब की ही तो तुमसे कामना की थी, और तुम आज उसे भी नरक की चिता में भस्म करने के लिए मेरे शहर में चले आए हो...

मगर सुधा मोती से कुछ न कह सकी–वह मेज़ पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगी। और जब मोती ने उसका हाथ थामना चाहा तो वह गुस्से से झुँझला गई, और उसका हाथ झटककर कमरे से बाहर निकल गई। बाहर निकलकर सीढ़ियों से नीचे उतर गई। मोती उसे बुलाता ही रहा, मगर वह भागकर सड़क पर जा पहुँची। सड़क पर अँधेरा था, मगर फिर भी बिजली की बत्तियों की इतनी रोशनी थी कि लोग उसके आँसू देख लेते। मगर उसने किसी की चिन्ता नहीं की और वह रोती हुई आगे बढ़ गई। आसिफ़अली पार्क के पास पहुँचकर वह ठिठकी। एक पल के लिए उसे विचार आया कि पार्क के अन्दर जाकर किसी पेड़ के तने से सिर टेककर बैठ जाए; मगर फिर उसने सोचा, व्यर्थ है, सब व्यर्थ है, मेरे विचार का शहज़ादा अब वहाँ न आएगा, अब वह कभी मेरे पास न आएगा।

जब वह यह सब कुछ सोच रही थी तो उसने अपनी माँग का सिन्दूर पोंछ डाला और सुहाग-बिन्दिया खुरच डालीं और पार्क की रेलिंग से अपनी सारी चूड़ियाँ तोड़ डालीं, इस विश्वास के साथ कि अब सारे जीवन के लिए वह बेवा हो चुकी है।

भक्तराम

अभी-अभी मेरे बच्चे ने मेरे बायें हाथ की उँगलियों को अपने दाँतों तले दबाकर इस ज़ोर से काटा कि मैं चिल्लाए बिना न रह सका और मैंने क्रोध में आकर उसे दो-तीन थप्पड़ भी जड़ दिए। बेचारा उसी समय से एक पिल्ले की तरह चिल्ला रहा है। ये बच्चे देखने में कितने नाज़ुक होते हैं परन्तु इनके नन्हे-नन्हे हाथों की पकड़ बड़ी मजबूत होती है। इनके दाँत यों दूध के दाँत होते हैं परन्तु काटने में गिलहरियों को भी मात कर देते हैं। इस अबोध बालक की शरारत से सहसा मेरे दिल में बचपन की एक घटना जागृत हो उठी है। अब तक मैं उसे बहुत साधारण घटना समझता था और अपने ख्याल में उसे बिलकुल भूल चुका था। परन्तु यह अचेतन मन भी क्या-क्या क़लाबाज़ियाँ खाने लगता है। यों तो बात इतनी-सी थी कि बचपन में मैंने अपने गाँव के व्यक्ति भक्तराम के बायें हाथ का अँगूठा चबा डाला था और उसने मुझे थप्पड़ मारने की अपेक्षा सेब और अलूचे खिलाए थे और यों मैं इस घटना को भूल चुका था, परन्तु ज़रा इस भानमती के पिटारे का अनोखापन देखिए। यह साधारण-सी घटना सोई हुई नागिन की तरह मस्तिष्क के पृष्ठ-पोषण में दबी हुई है, और ज्योंही मेरा बच्चा मेरी उँगलियों को दाँतों तले दबाता है, और मैं उसे पीटता हूँ यह पच्चीस-तीस वर्ष से सोई नागिन एकदम जाग उठती है, और फन फैलाकर मेरे मस्तिष्क की चारदीवारी में लहराने लगती है। अब कोई इसे किस तरह मार भगाए! अब तो उसे दूध पिलाना होगा। खैर, तो वह घटना भी सुन लीजिए। जैसाकि अभी कह चुका हूँ, यह मेरे बालपन की घटना है। जब हम लोग रंगपुर के गाँव में रहते थे। रंगपुर का गाँव तहसील अजोड़ी का केन्द्र-स्थान है, इसलिए अब यह एक छोटा-मोटा क़स्बा बन चुका है। परन्तु जिन दिनों हम वहाँ रहते थे रंगपुर की आबादी अधिक न थी। यही कोई ढाई-तीन सौ घर होंगे जिनमें अधिकतर घर ब्राह्मणों और क्षत्रियों के थे। दस-बारह घर जुलाहों और कुम्हारों के होंगे। पाँच-छः बढ़ई, इतने ही चमार और धोबी और यही सारे गाँव में ले-देकर आठ-दस घर मुसलमानों के। परन्तु उनकी हालत पतली थी, इसलिए यहाँ उनका वर्णन करना व्यर्थ-सा मालूम होता है।

गाँव की बिरादरी के मुखिया लाला काँशीराम थे। यों तो ब्राह्मण समाज के सिद्धान्तों के अनुसार बिरादरी का मुखिया किसी ब्राह्माण ही को होना चाहिए था और फिर ब्राह्मणों की आबादी भी गाँव में सबसे अधिक थी। इसपर भी बिरादरी ने लाला काँशीराम को, जो जाति के क्षत्रिय थे, अपना मुखिया चुन रखा था। फिर वे सबसे अधिक शिक्षित भी थे अर्थात् नये शहर तक पढ़े हुए थे, और वह पत्र जिसे डाकिया भी न पढ़ पाता था वे अच्छी तरह पढ़ लेते थे।

तमस्सुक, हुंडी, नालिश, सम्मन, गवाही, निशान-देही के अतिरिक्त नए शहर की बड़ी अदालत की हर कार्यवाही तक को वे अच्छी तरह जानते थे। इसलिए गाँव का हर व्यक्ति अपनी हर मुसीबत में, चाहे वह स्वयं काँशीराम की ही पैदा की हुई क्यों न हो, लाला काँशीराम ही का सहारा ढूँढ़ता था और लालाजी ने आज तक अपने किसी ऋणी की सहायता करने से इन्कार न किया था। इसीलिए वे गाँव के मुखिया थे, गाँव के स्वामी थे और रंगपुर से बाहर भी दूर-दूर तक लोग उनका यश गाते थे।

ऐसे सज्जन पुरुष का मँझला भाई लाला बाँशीराम था जो अपने बड़े भाई के प्रत्येक अच्छे कार्य में उनका हाथ बँटाता था। परन्तु गाँव के लोग उसे उतना अच्छा न समझते थे क्योंकि उसने अपने ब्राह्मण-धर्म को त्याग दिया था और गुरु नानक जी के चलाए हुए पंथ में शामिल हो गया था। उसने अपने घर में एक छोटा-सा गुरुद्वारा भी बनवा रखा था और नए शहर से एक ज्ञानी ग्रन्थी को बुलाकर उसे गाँव में सिख मत के प्रचार के लिए नियुक्त कर दिया था... लाला बाँशीराम के सिख बन जाने से गाँव में झटके और हलाल का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। मुसलमानों और सिखों के लिए तो यह एक धार्मिक प्रश्न था, परन्तु भेड़-बकरियों और मुर्गे-मुर्गियों के लिए तो जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। लेकिन मनुष्यों के नक्कारख़ाने में भला पशुओं की आवाज़ कौन सुनता है?

लाला काँशीराम के छोटे भाई का नाम था भक्तराम। यह वही व्यक्ति था जिसका मैंने बचपन में अँगूठा चबा डाला था–किस तरह? यह तो मैं बाद में बताऊँगा, अभी तो उसका व्यक्तित्व देखिए... अर्थात् सख़्त लफँगा, आवारा, बदमाश था यह व्यक्ति। नाम तो भक्तराम था परन्तु वास्तव में यह आदमी राम का नहीं, शैतान का भक्त था। रंगपुर के गाँव में आवारगी, बदमाशी ही नहीं, ढिठाई और बेहयाई का नाम यदि जीवित था तो केवल भक्तराम की कृपा से। अन्यथा रंगपुर तो सज्जन पुरुषों की ऐसी बस्ती थी, कि शायद देवताओं को भी वहाँ आते हुए भय आता होगा। सदाचार, पवित्रता और भक्ति का हल्का-हल्का प्रकाश मानों प्रत्येक प्राणी के चेहरे पर छनता नज़र आता था। कभी कोई लड़ाई न होती थी। ऋण समय पर वसूल हो जाता था, नहीं तो ज़मीन कुर्क हो जाती थी, और लाला काँशीराम फिर रुपया देकर अपने ऋणी को फिर काम पर लगा देते थे। मुसलमान बेचारे इतने कमज़ोर थे और संख्या में भी इतने थोड़े थे कि उनमें लड़ने का साहस न था। सब बैठे मस्जिदों के मीनारों और उनके कँगूरों को चुपचाप ताका करते क्योंकि गाँव में उन्हें अजान तक देने की भी मनाही थी। कम्मियों और अछूतों का सारा धन्धा दोजन्मे लोगों से सम्बन्धित था और वे चूँ तक न कर सकते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें इस बात का ख्याल-मात्र भी नहीं था कि जीवन इसके अतिरिक्त भी कुछ और हो सकता है। बस जो है वह ठीक है। यही मुसलमान समझते थे, यही ब्राह्मण, यही क्षत्रिय, यही चमार; और सब मिलकर भक्तराम को गालियां देते थे क्योंकि उसकी कोई कल भी सीधी न थी।

भक्तराम लठ-गँवार था। बात करने में अक्खड़, देखने में अक्खड़, बुद्धिहीन, बड़े-बड़े हाथ-पाँव, बड़े-बड़े दाँत, बत्तीसी हर समय खुली हुई, होंठों से राल टपकती हुई, जब हँसता तो बत्तीसी के साथ मसूड़ों की भी पूरी-पूरी नुमायश हो जाती। गाँव में प्रत्येक व्यक्ति का सिर घुटा हुआ था और प्रत्येक हिन्दू के सिर पर चोटी थी परन्तु भक्तराम ने बलोचों की तरह लम्बे-लम्बे बाल बढ़ा लिए थे और चोटी गायब थी। बालों में जूंओं की भरमार होती जिन्हें वह प्राय: घराट के बाहर बैठकर चुना करता था। दिन में दो-तीन बार सिर में सरसों का तेल रचाता, गले में फूलों का हार डालता और बीच में सीधी माँग निकालकर और केश सँवारकर वह संध्या समय गाँव के चश्मों के चक्कर काटने शुरू कर देता। अपनी इन बुरी हरकतों से कई बार पिट चुका था, परन्तु इसका उसपर कुछ भी असर न होता था। बड़ी मोटी खाल थी उसकी और फिर मेरा अनुमान है कि उसकी आत्मा की आवाज़ बिल्कुल ही मर चुकी थी। वह चिंगारी लुप्त हो चुकी थी जो पशु को मनुष्य बना देती है। भक्तराम शत-प्रतिशत पशु था और इसीलिए गाँव वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय, धनवान और निर्धन, हिन्दू और मुसलमान, सुनार और चमार सब उससे घृणा करते थे।

परन्तु चूँकि वह लाला काँशीराम का छोटा भाई था और गाँव के सबसे बड़े घराने का एक व्यक्ति इसलिए गाँव के लोग उसकी समस्त हरकतों को सहन करते चले आ रहे थे, पर जब हम रंगपुर में आए उस समय भक्तराम के बड़े भाई ने परेशान होकर उसे अपने घर से निकाल दिया था और तब्बी का एक घराट उसके सुपुर्द कर दिया था। भक्तराम वहीं काम करता था और रात को सोता भी वहीं था क्योंकि घराट दिन-रात चलता था। न जाने किस समय किसे आटा पिसाने की आवश्यकता आ पड़े और वह चादर या भेड़ की खाल में मक्की या गेहूँ के दाने डाले घराट पर चला आए और फिर उसके अलावा यह भी होता था कि दिन-भर में जो अनाज आया था या जो अनाज अभी पिसने को पड़ा होता उसकी देख-रेख के लिए भी एक व्यक्ति का वहाँ होना ज़रूरी था। यह सोचकर लाला काँशीराम ने अपने छोटे भाई भक्तराम को अपने घराट का काम सौंप दिया था। लाला काँशीराम का घराट गाँव में सबसे बड़ा घराट था अर्थात् लगभग सारे गाँव का अनाज वहीं पिसता था। एक और घराट भी था परन्तु वहाँ प्राय: मुसलमानों, अछूतों आदि का अनाज पिसता था, या जब कभी बड़ा घराट चलते-चलते रुक जाता या जब पाटों के स्तर पर पथरीले दन-दाने बनाने के लिए उन्हें उल्टा दिया जाता तो कुछ दिनों के लिए दूसरे घराट वालों को अच्छी आय हो जाती थी। जिन दिनों बड़ा घराट चलता होता उन दिनों किसी मुसलमान या अछूत को यह साहस न हो सकता था। साहस तो क्या कभी उनके मस्तिष्क में यह विचार भी न आ सकता था कि उनका अनाज कभी बड़े घराट पर पिस सकता है। आरम्भ में जब भक्तराम ने काम सम्भाला तो उसने भी कुछ दिनों तक यही ढंग अपने यहाँ रखा परन्तु बाद में उसके स्वभाव के ला-उबालीपन ने, बल्कि यों कहिए कि शैतानीपन ने ज़ोर मारा और उसने सोचा, चलो जी क्या है इसमें! जो भी आए आटा पिसवाकर ले जाए। इन पत्थर के दो पाटों में धरा ही क्या है, और यह आखिर अनाज ही तो है जिसे कुत्ता भी खाता है। इससे घराट की आय में बढ़ती ही होगी और दूसरे घराट का हाल जो पहले ही पतला है, और

भी पतला ही जाएगा और सम्भव है बिलकुल ही बन्द हो जाए। न जाने उसने क्या सोचा। जो हो, उसने कोई ऐसे ही बुरी बात सोची होगी जो उसने गाँव के अछूतों, चमारों तक को घराट पर आटा पिसाने का निमन्त्रण दे दिया। पहले तो लोगों ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में इन्कार किया, ''भला कहीं ऐसा भी हो सकता है? क्या कहते हो लाला, हम प्रजा हैं, तुम राजा हो, यह तुम्हारा घराट है, हमारा घराट वो है, हम भला यहाँ आटा पिसाने क्यों आएँगे। न बाबा, यह काम हमसे न होगा। और जो काम हमसे चाहो, ले लो, लेकिन यह काम हमसे नहीं होने का।'' परन्तु भक्तराम ने आखिर अपनी चालाकियों से उन बेचारों को फुसला ही लिया और उन्हें इस बात पर राज़ी कर लिया कि वे अनाज उसी के घराट पर लाया करेंगे और वहीं से पिसवाया करेंगे।

भला बिरादरी में कही ऐसी बात भी छिपी रह सकती है? बिरादरी में शोर मच गया, काना-फूसी होने लगी। प्रतिदिन भक्तराम से झगड़ा होने लगा। तगड़ा आदमी था इसलिए गालियाँ सहन कर गया। हँस-हँसकर टालता रहा, फिर उसने क्रोध में आकर दो-चार को पीट डाला। फिर एक दिन स्वयं पिटा। बात बढ़ते-बढ़ते काँशीराम के कानों तक पहुँची। उन्होंने भक्तराम को बुलाकर डाँटा। समझाया-बुझाया। ठंडे दिल से, नम्रतापूर्वक पुचकार-पुचकारकर बातें की, ऊँच-नीच समझाई, परन्तु जिसके दिल में कमीनापन हो वह भला धर्म-कर्म की बात क्या सुनेगा? भक्तराम ने इस कान से सुनी और उस कान से निकाल दी। पहले जब भक्तराम अपने घर पर रहता था, उसके लिए थोड़ी-बहुत रोक-टोक भी थी। यह भय भी था कि बड़े भाई क्या कहेंगे, परन्तु अब तो वह दिन-रात घराट पर रहता था। अब उसे वहाँ रोकने वाला कौन था? अब वह खूब खुलकर खेला। उन्हीं दिनों वह भंग पीने लगा और एक मुसलमान फ़क़ीर के यहाँ आने-जाने लगा जो उन दिनों अपनी पत्नी और एक नौजवान लड़की के साथ नदी के किनारे एक तकिए (मठ) में आकर ठहरा हुआ था। ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते गए भक्तराम घराट के काम-काज से विमुख-सा रहने लगा और दिन का एक बड़ा भाग तकिये में चरस और गाँजा पीने में व्यतीत करने लगा। भाई ने बहुत समझाया, स्वयं गाँव के सज्जन मुसलमानों ने उसपर घृणायुक्त वाक्य कसे परन्तु वह तो किसी और ही नशे में चूर था। कुछ दिन और गुज़रे और फिर पता चला कि भक्तराम ने नए शहर जाकर उस मुसलमान फ़क़ीर की बेटी से निकाह (शादी) कर लिया है, और इस्लाम क़बूल कर लिया है। सारे गाँव में हलचल मच गई, जब उन्होंने भक्तराम को काले फुन्दनेवाली सुर्ख रंग की ऊँची टोपी पहने हुए देखा। फ़क़ीर तो खैर भय के मारे फिर कभी उस गाँव में न घुसा, और यह उसने अच्छा ही किया, अन्यथा लाला काँशीराम के साथी अवश्य उससे बदला लेने की कोशिश करते। परन्तु अपने भाई को अब क्या कह सकते थे जो अपनी पत्नी को लेकर फिर गाँव में आ धमका था और घराट में–अपने भाई के घराट में–आकर बस गया था। दोनों पति-पत्नी यहीं रहते थे, और भक्तराम अब बहुत प्रसन्न था और श्वेत लट्ठे की शलवार और काली चिकन की बास्कट, जिसपर कई सौ घुँडीदार बटन लगे हुए थे, पहनकर गाँव में आज अभिमानपूर्वक सिर ऊँचा किए घूमता था और गाँव की बहू-बेटियों पर बिना धार्मिक भेद-भाव के आवाज़ें कसता था। ऐसा दस नम्बर का बदमाश था वह कि जब मेरी माँ मुझे गाली दिया

करती तो मेरी तुलना भक्तराम से किया करती और मैं सदैव रो देता। भक्तराम से मुझे बड़ी चिढ़ थी। एक तो उसने हमारा धर्म छोड़ दिया था। भला ऐसे आदमी का क्या भरोसा और फिर भक्तराम की शैतानी देखो कि मुसलमान होते ही उसने गाँव के मुसलमानों को उकसाना शुरु कर दिया कि वे मस्जिद के मुनारे पर चढ़कर अज़ान दें। परन्तु वह तो भला हो मुसलमानों का जो किसी ने उसकी बात न मानी और डरते-डरते कहा कि गाँव में आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ। इस पर वह बदमाश बहुत हँसा और उसने स्वयं वुज़ू करके मस्जिद के मुनारे पर चढ़कर अज़ान दे दी, और उसकी गूँजती-गरजती आवाज़ गाँव की चौहदी में, नदी के किनारे के नाशपातियों के झुँड में और दूर सोनबरो से ढकी हुई पहाड़ियों की छातियों में धमक पैदा करती हुई गूँज गई और गाँव के प्रत्येक ब्राह्मण और क्षत्रिय का दिल एक अज्ञात भय से सिहर उठा। घोर कलियुग है... घोर कलियुग। अब अवश्य निष्कलंक अवतार उत्पन्न होंगे... हरे राम हरे राम... और लाला काँशीराम ने ब्राह्मणों से विचार-विनिमय करके एक बहुत बड़ा यज्ञ किया और प्रायश्चित्त किया और अपने छोटे भाई भक्तराम को बिरादरी से निकाल दिया और जायदाद से बेदखल कर दिया और पुराने घराट के पानी का बहाव मोड़कर एक और अच्छा-सा घराट बनवा लिया। पुराना घराट जहाँ अब भक्तराम और उसकी पत्नी रहते थे अब बड़ी जर्जर हालत में था। ग्राहक कम होते-होते बिलकुल ग़ायब हो गए।

मुसलमानों के जो घर शेष रह गए थे उन्होंने भी सहायता से हाथ खींच लिया क्योंकि गाँव के सामाजिक जीवन में भक्तराम ने यहाँ-वहाँ छिद्र डाल दिए थे, और उसे कोई पसन्द नहीं करता था। उन्हीं दिनों भक्तराम की पत्नी के बच्चा होने वाला था। लोग कहते थे कि यह फ़क़ीरन ब्याह से पहले ही गर्भवती थी। और वह फ़क़ीर भक्तराम को जुल देकर स्वयं सटक गया है। कोई कुछ कहता कोई कुछ; जितने मुँह उतनी बातें। हाँ, यह बात ज़रूर थी कि भक्तराम हर समय अपनी पत्नी की दिलजोई में लगा रहता था। वह उसके लिए हर प्रकार का परिश्रम करने को तैयार था। परन्तु गाँव में अब उसे कोई काम देने को तैयार न था, और ऐसे बदचलन के लिए भला उस सज्जन पुरुषों के गाँव में काम करने की क्या सबील हो सकती थी। मुझे वह रात नहीं भूलती जब भक्तराम की पत्नी के बच्चा होने वाला था। सुबह ही से उसने हमारे घर के चक्कर काटने शुरू कर दिए थे। मेरी माँ की मिन्नतें की थीं और उसके पाँव पर सिर रखकर कहा था, ''तुम चलोगी माँ तो मेरी बीवी बच जाएगी।'' परन्तु मेरी माँ ने, जो बड़े-बड़े क्षत्रिय घरानों और ब्राह्मणों के घर में दाई बनकर जाती थी, भक्तराम को टका-सा जवाब दे दिया था। आधी रात के समय भक्तराम ने चीख-चीखकर दुहाई दी परन्तु हम लोगों ने दरवाज़ा नहीं खोला और मस्त होकर सो रहे। दूसरे दिन पता चला कि भक्तराम की पत्नी की मृत्यु हो गई। बच्चा उत्पन्न न हो सका था। भक्तराम बहुत रोया, दहाड़ मार-मारकर रोया। एक पशु के आँसू थे जो योंही अपने दुःख पर टसुए बहा रहा हो।

कुछ दिनों में ही वह उस फ़क़ीरनी को भूल गया। इसलिए अब उसने अपना मुसलमानी

नाम भी छोड़ दिया। अब वह फिर अपने-आपको खुदाबख्श की बजाय भक्तराम कहता था और पहले की तरह गाँव की गलियों में चक्कर लगाता था; परन्तु वाह रे हिन्दुओं, किसी ने उसे मुँह न लगाया, यहाँ तक कि उसके भाई भी उससे बात तक करने को तैयार न हुए और भक्तराम अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

कुछ दिनों के बाद भक्तराम गाँव छोड़कर कहीं दूर चला गया। तीन-चार मास के बाद जो लौटा तो उसके पास तीन दर्जन साँप थे और बहुत-से छछून्दर, नेवले और ऐसे ही कई और जानवर और एक पिंजरे में एक सुन्दर मैना थी जो बहुत अच्छा गाती थी और मैं घंटों उस मैना के पिंजरे के निकट जाकर गाना सुना करता और गाँव के बहुत-से लड़के मेरी तरह भक्तराम के पास आया करते और अब भक्तराम के पास बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ भी थीं जिनके सम्बन्ध में वह कहता था कि संसार के प्रत्येक रोग यों चुटकियों में दूर कर सकती हैं। धीरे-धीरे लोग उसकी ओर खिंचने लगे और उसे अच्छी-खासी आय होने लगी। मेरी माँ को जो गाँव की प्रसिद्ध दाई थी और स्त्रियों के प्रत्येक रोग का इलाज जानती थी, भक्तराम का यह स्वरूप एक आँख न भाया परन्तु वह कर ही क्या सकती थी? हाँ, जब कभी उन दोनों की मुठभेड़ हो जाती वह उसे खूब खरी-खरी सुनाती। भक्तराम ये गालियाँ सुनकर हँस देता या अपना सिर खुजलाने लगता और फिर एक ज़ोरदार क़हक़हा लगाकर चल देता। पहले दर्जे का छटा हुआ बदमाश था वह...

होते-होते यह हुआ कि भक्तराम की जड़ी-बूटियों की धाक सारे गाँव में बैठ गई। फिर आसपास के गाँवों के रोगी भी उसके पास आने लगे। अब उसने गाँव के छोटे-से बाज़ार में एक चमार की आधी दुकान किराए पर ले ली और बैठकर दवाइयाँ बेचने लगा। आधी दुकान में मौलू चमार जूतियाँ बनाता था। मौलू चमार और उसकी पत्नी और उसकी विधवा बहिन रामदई–बस ये तीनों प्राणी हर समय जूतियाँ सीते रहते थे। दूकान के दूसरे भाग में भक्तराम नए ग्राहकों को फाँसता और साँपों का तमाशा दिखाता था, और अपनी जबान को साँपों से डसवाता था, और संखिया खाकर बताता था कि उसपर विष का कोई असर नहीं होता क्योंकि उसके पास ऐसी रामबाण जड़ी-बूटियाँ हैं जो बड़े से बड़े विष की काट हैं। अर्थात् इसी तरह की गप्प हाँककर और शेख़ियाँ बघारकर वह भोले-भाले लोगों से टके बटोरता और मेरी माँ को उसकी बातें सुन-सुनकर बहुत क्रोध आता था। परन्तु हम लोग उसका कुछ बिगाड़ ने सकते थे क्योंकि अब लोगों को उसपर विश्वास-सा हो गया था, और अब उसकी जेब में रुपये भी थे और उसने गाँव से बाहर नदी के उस पार मिट्टी का एक कच्चा-सा घर भी बना लिया था, जहाँ वह अवकाश के समय अपनी छोटी-सी फुलवाड़ी बनाने में जुट जाता। मुझे भक्तराम से सख्त घृणा थी और मैं कभी उसके घर न जाता था परन्तु अब वह उस सुन्दर मैना को, जो दुकान के बाहर लटके हुए पिंजरे में गाती रहती थी, अपने घर उठा ले गया था। इसलिए कभी-कभी मैं उस मैना को देखने चला ही जाता। अच्छा ही हुआ जो मुझे वह टोकता न था अन्यथा मेरा इरादा तो यह था कि यदि उसने कभी मुझे टोका तो गोफिए में ढेला रखकर उसका सिर फोड़ दूँगा।

भक्तराम का धन्धा अब उन्नति पर था परन्तु उन्हीं दिनों उसने एक ऐसी हरकत की कि गाँव के लोग उससे फिर नाराज़ हो गए और उस घटना के बाद गाँव में और आसपास के गाँवों में कभी उसकी साख न बँध सकी। बात असल में यह थी कि रामदई, जो कि मौलू चमार की विधवा बहन थी, लाला काँशीराम की दाश्ता थी और हम सम्भव सावधानी के बावजूद गर्भवती हो गई थी, और लाला काँशीराम ने भीतर ही भीतर भक्तराम को कहला भेजा था कि वह कोई ऐसी औषधि दे जिससे रामदई का गर्भ गिर जाए परन्तु भक्तराम एक छँटा हुआ बदमाश था। वह भला ऐसे अवसर पर किसी सज्जन की सहायता क्यों करता! उसने साफ इंकार कर दिया बल्कि उसने यह बात ऐसी फैलाई कि लाला काँशीराम को कुछ महीनों के लिए गाँव छोड़कर नए शहर जाना पड़ा और रामदई के लिए मुँह छिपाना कठिन हो गया। यह बात अब ऐसी फैल चुकी थी कि अब लाला बाँशीराम के बड़े भाई काँशीराम ने मेरी माँ को, जो उनकी ख़ानदानी दाई थीं, इस नाज़ुक मामले को अपने हाथ में लेने को कहा तो मेरी माँ ने भी साफ इंकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बेचारी रामदई नौ मास तक उस हरामी बेटे को पेट में लिए-लिए फिरी और गाँव-भर में उसका तिरस्कार हुआ और हरामी बच्चा उसने अलग जना। इसपर उसकी बिरादरी ने उसे 'जात-बाहर' कर दिया और उसके भाई-भौजाई ने उसे घर से बाहर निकाल दिया। ऐसी अवस्था में जब कि उसका कोई सहायक न था और जब वह कई दिन से दर-ब-दर ठोकरें खाती फिर रही थी और अपने बच्चे को दूध देने के लिए स्वयं उसके स्तनों में दूध न रहा था, वह भक्तराम के घर पहुँची। वह बदमाश तो जैसे उसकी प्रतीक्षा में ही था। उसने झट उसे अपने घर में डाल लिया और बिना शादी-ब्याह किए वे लोग हँसी-खुशी एक साथ रहने लगे। गाँव में इससे पहले कभी ऐसा न हुआ था–यह अन्धेर–निर्लज्जता, सीनाज़ोरी अपनी आँखों से तो देखी न जा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि भक्तराम की दुकान उठवा दी गई और उसे यह बात जता दी गई कि अब यदि वह गाँव की ओर मुँह करेगा तो अपनी जान से हाथ धो बैठेगा।

भक्तराम अब अपने ही घर में रहता था और बगीचे और घर के आस-पास जो उसने थोड़ी-सी ज़मीन मोल ले ली थी, उसमें खेती करके अपना, रामदई और उस हरामी बच्चे का पेट पालता था। कुछ लोगों का ख्याल है, कि वह बड़ा सादा जीवन व्यतीत करता होगा! यह ख्याल बिलकुल गलत है। जैसे पक्के घड़े पर पानी का कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार इन तमाम बातों ने भक्तराम पर कोई असर नहीं किया। उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया। उसे इस बात का ख्याल नहीं था, कि उसने अपने व्यवहार से अपने माँ-बाप, अपने खानदान, अपने गाँव की इज़्ज़त को बट्टा लगाया है। वह उसी प्रकार प्रसन्न नज़र आता था जैसे कभी कुछ हुआ ही न था, जैसे वह अब भी गाँव के अन्दर अपने भाई के सुन्दर घर में, जिसकी छत टीन की थी, रहता हो। मैंने एक दिन उसे उसके घर में दोपहर के समय देखा था, वह आँगन में एक चारपाई पर लेटा हुआ था, और रामदई को चूम रहा था। मैंने इससे पूर्व किसी पुरुष और स्त्री को

एक-दूसरे को चूमते नहीं देखा था। यह देखकर मैं एकदम भौंचक्का रह गया और मेरे कानों में एकदम मेरी माँ के शब्द गूँज गए, ''कभी भूलकर भी भक्तराम के घर की ओर न जाना। वह बड़ा ही बदमाश है।'' मेरी माँ ने सच कहा था। भला शरीफ लोग कहीं ऐसे होते हैं? घृणा और क्रोध के वशीभूत हो मेरी आँखों में आँसू भर आए। मैं वापस आने को ही था कि मैना ने मुझे देख लिया और चिल्लाने लगी, ''आओ, आओ नन्हे-मुन्ने बालक, मिठाई दूँगी। आओ, आओ नन्हे-मुन्ने बालक मिठाई दूँगी।'' मैना की आवाज़ सुनकर भक्तराम जल्दी से उठा और मेरी ओर बढ़ा। शायद वह मुझे पकड़ना चाहता था। बदमाश! मैं तेरे काबू में आसानी से नहीं आऊँगा। खूनी! डाकू! मैं रोता हुआ आगे-आगे भाग रहा था और मेरे पीछे-पीछे भक्तराम दौड़ता चला आ रहा था। ''बात तो सुन बेटे!'' परन्तु मैं ऐसा मूर्ख नहीं था कि रुक जाता। एकाएक उसने मुझे गरदन से पकड़ लिया और मैंने कटकटाकर उसके अँगूठे को अपने दाँत तले दबा लिया और इस ज़ोर से काटा कि वह चीख पड़ा। परन्तु उसने मुझे थप्पड़ नहीं मारे, कुछ नहीं किया; हाँ, मुझे छोड़ा भी नहीं। वह मुझे अपने घर के भीतर ले गया। उसने रामदई की ओर संकेत करते हुए कहा, ''यह तुम्हारी मौसी हैं, इन्हें राम-राम कहो!''

मैंने कहा, ''मौसी तुम्हारी होंगी। मैं इन्हें राम-राम नहीं कहूँगा।''

उसने हँस-हँसकर कहा, ''देखो, यह तुम्हारा छोटा भाई है, मन्नो। इसके साथ खेलो।''

मैंने कहा, ''मैं इसके साथ नहीं खेलूँगा। मेरी माँ कहती है रामदई का बच्चा हरामी है! हरामी यह बच्चा...।''

एकाएक रामदई ने बच्चे को अपनी छाती से चिपटा लिया। भक्तराम खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसके मैले-मैले दाँत और मसूढ़े होंठों के बाहर निकल आए। कहने लगा, ''सेब खाओगे? सेब खाओगे? आलूचे? आलूचे... हाँ-हाँ''–मैंने सिर हिलाकर इन्कार कर दिया।

उसने ज़बरदस्ती बहुत-से सेब और आलूचे मेरी जेब में ठूँस दिए; फिर मुसकराकर बोला, ''यह मैना तुम्हें अच्छी लगती है न। ले जाओ इसे।''

वह पिंजरा उतारकर मुझे देने लगा।

मैंने कहा, ''कोई थूकता भी है तुम्हारी इस मैना पर? मेरी माँ कहती है, कि भक्तराम आदमी नहीं जानवर है। वह तो चमारों से भी बुरा है। छोड़ो मुझे, नहीं चाहिए तुम्हारी मैना-वैना...।''

उसने हँसकर मुझे छोड़ दिया, कहने लगा, ''तो अब भाग जाओ।''

उस बदमाश के पंजे से निकलकर जो मैं भागा तो सीधा घर आकर ही साँस ली। मैंने माँ को सारी बात बताई तो पहले तो वह मुझ पर बहुत बिगड़ी फिर भक्तराम को खूब कोसा और सारे सेब और आलूचे उठाकर गली में फेंक दिए।

उसके बाद मैं कभी भक्तराम के घर नहीं गया।

कुछ समय पश्चात् जब लाला काँशीराम नये शहर से लौटा तो उसने मौलू चमार से कह-सुनकर भक्तराम पर बदचलनी और अग़वा का मुकदमा कर दिया। छः-सात महीने भक्तराम जेल में रहा, आखिर रिहा हो गया। परन्तु जेल में रहकर उसका स्वास्थ्य काफी गिर गया था और अब जब वह जेल से छूटकर आया तो लोग कहते थे कि उसके चेहरे पर वह पहली-सी प्रफुल्लता नहीं थी। न अब वह पहले की तरह छाती तानकर ही चलता था। कुछ झुका-झुका-सा था, कुछ उदास! परन्तु यह स्थिति भी कुछ दिनों तक ही रही। फिर वह उसी प्रकार ढीठ, निर्लज्ज बनकर इधर-उधर घूमने लगा और गाँव-गाँव जाकर अपनी जड़ी-बूटियों का कारोबार करने लगा। परन्तु शरीफ लोग उसे मुँह न लगाते थे और उसकी परछाईं से भी कतराते थे। हिन्दू, मुसलमान, चमार, हर धर्म और हर जाति के लोग उसे आवारा और शोहदा समझते थे, और हमारे गाँव में तो उसकी बुराइयाँ उदाहरणत: प्रयोग में आतीं और माताएँ अपने बच्चों को सदाचारी बनने को कहते समय कहा करती थी, ''देखो, अगर कोई बुरा काम करेगा तो तुम्हारी भी वही दशा होगी जो भक्तराम की हुई है।''

जैसा व्यर्थ-सा उसका जीवन था वैसी ही व्यर्थ उसकी मृत्यु हुई...

मैंने उसे मरते समय नहीं देखा, परन्तु जिन लोगों ने उसे मरते समय देखा वह भी उसके पागलपन पर आज तक हँसते हैं। कहते हैं मरने से पूर्व वह बहुत खुश था। नदी के किनारे रामदई के साथ खड़ा था, और उन तूफानी लहरों की ओर देख रहा था जो अधिक वर्षा के कारण नदी में बड़े-बड़े भँवर बना रही थीं। एकाएक उसने अपने किनारे के निकट भेड़ के तीन-चार बच्चों को देखा जो बाआ-बाआ करते-करते चले जा रहे थे। क्षण-भर के लिए भक्तराम ने उनकी ओर देखा और दूसरे ही क्षण वह नदी की तूफानी लहरों की गोद में था और भेड़ के बच्चों को बचाने का निष्फल प्रयत्न कर रहा था। इसी प्रयत्न में उसने अपनी जान भी दे दी। दूसरे दिन जब तूफान थम गया तो उसकी लाश नदी के पश्चिमी मोड़ पर तुँग के एक तने से लिपटी हुई पाई गई, जिसका आधा भाग पानी में डूबा हुआ था। कैसी मूर्खों, पागलों की-सी मृत्यु थी वह! पशु-जीवन की पशु-मृत्यु! भला ऐसी मृत्यु में भी कोई तुक है...परन्तु उसके अच्छे भाइयों ने अच्छा ही किया। उसे क्षमा कर दिया और यद्यपि वह बिरादरी से निकाला जा चुका था और अब हिन्दू रहा था न मुसलमान, न अछूत, फिर भी उन्होंने अपने धर्म के अनुसार उससे अच्छा व्यवहार किया। वह उसकी लाश को घर ले गए, उसे नहलाया-धुलाया और रीति के अनुसार उसे श्मशान घाट जाकर जला दिया। उस समय मैं वहीं था...!

परन्तु यह 1920 की बात है। आज 1944 है, और मेरे नन्हे बेटे ने मेरी उँगलियों को ज़ोर से काट खाया है। और मैंने क्रोध में आकर उसे दो थप्पड़ जड़ दिए हैं और मासूम बालक सोफ़े में मुँह छिपाकर रो रहा है, और आज मैं यह सोचता हूँ भक्तराम! कि तुम जो दस नम्बर के बदमाश थे और तुम्हारा कोई धर्म न था, तुम जो एक गँवार उजड्ड झूठे पनसारी थे और जड़ी-बूटियाँ बेचते थे और लोगों को ठगते थे और उनसे रुपया बटोरते थे और एक मुसलमान फकीरनी से निकाह

किए हुए थे और एक विधवा अछूत से झूठमूठ का विवाह रचाए हुए थे, भक्तराम! तुम जो जेल की हवा खा चुके थे और गाँव-भर के माने हुए लफँगे और गुण्डे थे...तुम! जिससे लोग घृणा करते थे और शायद आज भी करते हैं। एक मेरे गाँव में ही नहीं, हर गाँव में, हर शहर में, हर जगह में... आज मैं यह सोचता हूँ भक्तराम! शायद मैंने तुम्हें पहचाना नहीं। शायद मैंने तुम्हें पहचानने में ग़लती की। शायद तुम उन बड़े आदमियों से भी बड़े और महान थे जो रेलें बनाते है, और लोगों को भूखों मर जाने देते हैं, जो ऊँचे-ऊँचे भवन बनाते हैं और ईश्वर की सन्तान को गलियों में नंगा फिरने पर विवश कर देते हैं। जो बेबस स्त्रियों से उनका सतीत्व छीन लेते हैं, जो अपनी सामयिक प्रेमिकाओं के लिए महल और अपनी सन्तान के लिए अनाथालय बनवाते हैं और समाज के मन्दिर में बैठकर उनपर लानत भेजते हैं। हाँ, तुम उन सब आदमियों से महान हो जो ट्रैक्टर, हवाई जहाज, स्कूल, मशीनगनें, थियेटर, सिनेमा, एम्पायर बिल्डिंग, नाचघर, बैंक, राज्य, तख़्ते-ताऊस, उपनिषद्, दर्शन शास्त्र और साहित्य का निर्माण करते हैं और मानवजाति को विश्व के अन्धकार में सदैव के लिए हैरान और परेशान छोड़ देते हैं। तुम उन समस्त व्यक्तियों से महान् हो भक्तराम! क्योंकि तुम पनसारी हो, जड़ी-बूटी बेचते हो, आवारा हो। नहीं, नहीं, तुम सचमुच के कवि हो, तुम वह कवि हो जो हर शताब्दी में, हर वर्ष, हर जगह, हर गाँव में उत्पन्न होता है, परन्तु लोग, अच्छे लोग, नेक लोग, बड़े लोग उसे समझने से इंकार कर देते हैं। तुम वह कवि हो मित्र! आओ हाथ मिलाओ!

परन्तु भक्तराम अब मुझसे हाथ नहीं मिला सकता क्योंकि वह मर चुका है। 1920 की बाढ़ में भेड़ के बच्चों को बचाते समय मर गया था, और वहीं नदी के किनारे उसकी चिता जलाई गई थी, और कोई उसकी मृत्यु पर रोया न था। शोले उसकी चिता से उठकर आकाश की ओर बढ़ रहे थे। लाल लाल शोले, शोलों के पत्ते, शोलों की कलियाँ, शोलों के फूल उसकी चिता से खिल रहे थे, और चिता जल रही थी, और किसी की आँख में आँसू न थे और वातावरण भी उदास न था। आकाश निर्मल था, नीला गहरा, सुन्दर। धूप भी स्वच्छ थी, खिली हुई, चमकदार, नरम और गरम और कहीं-कहीं बादलों के श्वेत-श्वेत राजहँस तैर रहे थे और नदी का पानी गीत गाता हुआ, भँवर बनाता हुआ, लहरों के जाल तानता हुआ उसकी चिता के निकट से गुज़र रहा था और चिता के पास ही खट्टे अनारों के झुण्ड में शोलों के ऐसे सुर्ख फूल दहक रहे थे। विश्व प्रसन्न था, भगवान प्रसन्न था, स्वयं कवि प्रसन्न था क्योंकि आज उसका दिल शोला बन गया था और उसकी आत्मा फूल! ये शोले जो तुम्हारे दिल में है, ये फूल जो हर जगह हैं, जो तुम्हारे अन्दर है, और फिर अन्दर और बाहर हर जगह हैं। विश्व और कवि और मनुष्य एक हो गए थे। भला ऐसी मृत्यु किसे प्राप्त होती है, भक्तराम!

कालू भँगी

मैंने इससे पहले हज़ार बार कालू भँगी के बारे में लिखना चाहा है। लेकिन मेरी क़लम हर बार यह सोचकर रुक गई है, कि कालू भँगी के सम्बन्ध में लिखा ही क्या जा सकता है! भिन्न-भिन्न कोणों से मैंने उसके जीवन को देखने, परखने, समझने की कोशिश की है, लेकिन कहीं वह टेढ़ी रेखा दिखाई नहीं देती जिससे कोई दिलचस्प कहानी बन सकती हो। दिलचस्प होना तो एक ओर, कोई सीधी-सादी फीकी-रुखी कहानी भी तो नहीं लिखी जा सकती कालू भँगी के सम्बन्ध में। फिर न जाने क्या बात है, हर कहानी को आरम्भ करते हुए मेरे मस्तिष्क में कालू भँगी आ खड़ा होता है, मुझसे मुसकराकर पूछता है :

''छोटे साहेब, मुझपर कहानी नहीं लिखोगे-कितने वर्ष हो गए हैं तुम्हें लिखते हुए?''

''आठ वर्ष।''

''कितनी कहानियाँ लिखी हैं तुमने?''

''साठ और दो, बासठ।''

''मुझमें क्या बुराई है छोटे साहेब! तुम मेरे बारे में क्यों नहीं लिखते? देखो, कब से मैं उस कहानी की प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। तुम्हारे मस्तिष्क के एक कोने में एक समय से हाथ बाँधे खड़ा हूँ, छोटे साहेब, मैं तो तुम्हारा पुराना सेवक हूँ, कालू भँगी। आखिर तुम मेरे बारे में क्यों नहीं लिखते?''

और मैं कुछ उत्तर नहीं दे पाता। इतना सीधा-सपाट जीवन रहा है, कालू भँगी का कि मैं उसके सम्बन्ध में कुछ भी तो नहीं लिख सकता। ऐसा नहीं है कि मैं उसके बारे में कुछ लिखना नहीं चाहता। वास्तव में बहुत देर से मैं कालू भँगी के सम्बन्ध में लिखने का विचार कर रहा हूँ, परन्तु कभी लिख नहीं सका, हज़ार कोशिशों के बावजूद नहीं लिख सका। इसलिए आज तक कालू भँगी अपनी पुरानी झाड़ू लिए अपने बड़े-बड़े नंगे घुटने लिए, अपने फटे-फटे खुरदरे, बेढँगे पाँव लिए, अपनी सूखी टाँगों पर उभरी दरीदें लिए, अपनी कूल्हों की उभरी-उभरी हड्डियाँ लिए, अपने भूखे पेट और उसकी सूखी चमड़ी की काली सलवटें लिए अपनी मुर्झाई हुई छाती, धूल से अटे बालों की झाड़ियाँ लिए, अपने सिकुड़े-सिकुड़े होंठों, फैले-फैले नथनों, झुर्रियों-भरे गालों और अपनी आँखों के अन्धकारमय गढ़ों के ऊपर नंगी चिंदियाँ उभारे मेरे मस्तिष्क के कोने में खड़ा है। अब तक कई पात्र आए और अपनी जीवनियाँ बताकर, अपना महत्त्व जताकर

चले गए। सुन्दर स्त्रियाँ, सुन्दर काल्पनिक मूर्तियाँ, शैतान के चेहरे, इस मस्तिष्क के रंग-रोग़न से परिचित हुए। इसकी चारदीवारी में अपने दीपक जलाकर चले गए, लेकिन कालू भँगी बराबर अपनी झाड़ू सम्भाले उसी तरह खड़ा रहा। उसने उस घर के भीतर आने वाले प्रत्येक पात्र को देखा है। उसे रोते हुए, गिड़गिड़ाते हुए, प्रेम करते हुए, घृणा करते हुए, सोते हुए, जागते हुए, क़हक़हे लगाते हुए, व्याख्यान देते हुए, जीवन के हर रंग में, हर सतह पर, हर मंज़िल में देखा है। बचपन से बुढ़ापे और बुढ़ापे से मृत्यु तक, उसने हर अपरिचित को इस घर के दरवाज़े के भीतर झाँकते हुए देखा है। और उसे भीतर आते देखकर उसके लिए रास्ता साफ कर दिया है। वह स्वयं परे हट गया है, एक भँगी की तरह हटकर खड़ा हो गया है; यहाँ तक कि कथा आरम्भ होकर समाप्त भी हो गई है, यहाँ तक कि पात्र और दर्शक दोनों विदा हो गए हैं, लेकिन कालू भँगी उसके बाद भी वहीं खड़ा है। अब केवल एक पग उसने आगे बढ़ा लिया है और मस्तिष्क के बीच में आ गया है, ताकि मैं उसे अच्छी तरह देख लूँ। उसकी नंगी चिंदिया चमक रही है। होंठों पर एक मूक प्रश्न है। एक समय से मैं उसे देख रहा हूँ। समझ में नहीं आता, क्या लिखूँगा इसके बारे में। लेकिन आज यह भूत ऐसे नहीं मानेगा! इसे कई वर्षों तक टाला है, आज इसे भी विदा कर दूँ...!

मैं सात वर्ष का था जब मैंने पहली बार कालू भँगी को देखा। उसके बीस वर्ष बाद, जब वह मरा, मैंने उसे इसी हालत में देखा। कोई फ़र्क़ न था। वही घुटने, वही पाँव, वही रंगत, वहीं चेहरा, वही चिंदिया, वही टूटे हुए दाँत, वही झाड़ू, जो मालूम होता था, माँ के पेट से उठाए चला आ रहा है। कालू भँगी का झाड़ू उसके शरीर का एक अंग लगती थी। वह प्रतिदिन रोगियों का मल-मूत्र साफ करता था, डिस्पेन्सरी में फिनायल छिड़कता था, फिर डॉक्टर साहब और कम्पौंडर साहब के बंगलों की सफाई का काम करता था। कम्पौंडर साहब की बकरी को और डाक्टर साहब की गाय को चराने के लिए जंगल में ले जाता और दिन ढलते ही उन्हें वापस अस्पताल में ले आता और उन्हें थान पर बाँधकर अपना खाना तैयार करता और उसे खाकर सो जाता। बीस वर्ष से मैं उसे यही काम करते हुए देख रहा था–प्रतिदिन, नियमपूर्वक। इस बीच में वह कभी एक दिन के लिए भी बीमार नहीं हुआ। यह बात आर्श्चजनक अवश्य थी, लेकिन इतनी भी नहीं कि केवल इसी के लिए एक कहानी लिखी जाए। खैर यह कहानी तो ज़बरदस्ती लिखवाई जा रही है। आठ वर्ष से मैं इसे टालता आया हूँ, लेकिन यह व्यक्ति नहीं मानता, ज़बरदस्ती से काम ले रहा है। यह अत्याचार मुझपर भी है और आप पर भी। मुझपर इसलिए कि मुझे लिखना पड़ रहा है, आप पर इसलिए कि आपको इसे पढ़ना पड़ रहा है। यद्यपि इसमें ऐसी कोई बात है ही नहीं जिसके लिए सिरदर्दी मोल ली जाए। लेकिन क्या किया जाए, कालू भँगी की मौन दृष्टि के भीतर एक ऐसा विनय निहित है, एक ऐसी विवश मूकता, ऐसी गहराई है कि मुझे उसके बारे में लिखना पड़ रहा है, और लिखते-लिखते यह भी सोचता हूँ कि उसके जीवन के सम्बन्ध में क्या लिखूँगा। कोई पहलू भी तो ऐसा नहीं जो दिलचस्प हो, कोई कोना ऐसा नहीं जो अन्धकारमय

हो, कोई कोण ऐसा नहीं जो चुम्बक जैसा आकर्षण रखता हो, फिर न जाने क्यों वह आठ वर्ष से बराबर मेरे मस्तिष्क में खड़ा है। इसमें उसकी हठ-धर्मी के अतिरिक्त और तो कुछ नज़र नहीं आता। जब मैंने 'आँगी' की कहानी में चाँदनी के खलिहान सजाए थे और 'यरक़ानियत' के रोमाँचकारी कोण से संसार को देखा था, उस समय भी यह यहीं खड़ा था। जब मैंने रोमाँच के आगे पग बढ़ाए और 'हुस्न और हैवान' की रंग-बिरंगी दशाएँ देखता हुआ 'टूटे हुए तारों' को छूने लगा उस समय भी यह यहीं खड़ा था। जब मैंने 'बालकनी' से झाँककर अन्नदाताओं की निर्धनता देखी और पंजाब की धरती पर खून की नदियाँ बहती देखकर अपने वहशी होने का ज्ञान प्राप्त किया, उस समय भी यह मेरे मस्तिष्क के दरवाज़े पर खड़ा था, चुपचाप, बिना हिले-डुले। मगर अब यह अवश्य जाएगा। अब इसे जाना ही होगा। अब मैं इसके बारे में लिख रहा हूँ। भगवान के लिए नीरस, फीकी-सी कहानी आप भी सुन लीजिए ताकि यह यहाँ से दूर दफ़न हो जाए और मुझे इसकी गन्दी संगत से छुटकारा मिल जाए और यदि आज भी मैंने इसके बारे में न लिखा और न आपने इसे पढ़ा तो यह आठ वर्ष बाद भी यहीं जमा रहेगा और सम्भव है जीवन-भर यहीं खड़ा रहे।

लेकिन परेशानी तो यह है, कि इसके सम्बन्ध में लिखा क्या जा सकता है? कालू-भँगी के माँ-बाप भँगी थे और जहाँ तक मेरा विचार है इसके सब पूर्वज भँगी थे, और सैकड़ों वर्ष से यहीं रहते चले आए थे। इसी तरह इसी दशा में। फिर कालू भँगी ने शादी न की थी, उसने कभी प्रेम न किया था, आश्चर्य तो यह है कि वह कभी अपने गाँव से बाहर नहीं गया था। वह दिन-भर अपना काम करता और रात को सो जाता और प्रात: उठकर फिर अपने काम में जुट जाता। बचपन ही से वह इसी प्रकार करता चला आया था।

हाँ, कालू भँगी में एक बात अवश्य दिलचस्प थी और वह यह कि उसे अपनी नंगी चिंदिया पर किसी जानवर जैसे गाय या भैंस की जिह्वा फिराने से बड़ा आनन्द मिलता था। प्राय: दोपहर के समय मैंने उसे देखा कि नीले आकाश-तले, हरी घास के मखमल जैसे फर्श पर, खुली धूप में वह अस्पताल के पास के एक खेत की मेंड़ पर उकडूँ बैठा है, और गाय उसका सिर चाट रही है बार-बार। और वह वहीं अपना सिर चटवाते-चटवाते ऊँघ-ऊँघकर सो गया है। उसे इस प्रकार सोते देखकर मेरे हृदय में प्रसन्नता का एक विचित्र-सा भाव उजागर होने लगता था और विश्व के थके थके स्वप्निल सौन्दर्य का भ्रम होने लगता था। मैंने अपने छोटे-से जीवन में संसार की सुन्दरतम स्त्रियाँ, नवजात कलियाँ, संसार के सुन्दरतम दृश्य देखे हैं, लेकिन न जाने क्यों ऐसी सरलता, ऐसा सौन्दर्य, ऐसी शान्ति किसी दृश्य में नहीं देखी। जब मैं सात वर्ष का था और वह खेत बहुत बड़ा और विस्तृत दिखाई देता था और आकाश बहुत नीला और निर्मल और कालू भँगी की चिंदिया शीशे की तरह चमकती थी; और गाय की जिह्वा धीरे-धीरे उसकी चिंदिया चाटती हुई, जैसे उसे सहलाती हुई, कुसर-कुसर का स्वप्निल स्वर उत्पन्न करती जाती थी। जी चाहता था मैं भी उसी तरह अपना सिर घुटाकर उस गाय के नीचे बैठ जाऊँ और ऊँघता-ऊँघता

सो जाऊँ। एक बार मैंने ऐसा करने की कोशिश भी की तो पिताजी ने मुझे वो पीटा, वो पीटा– और मुझसे अधिक कालू भँगी को वो पीटा कि मैं भय से चीखने लगा कि कालू भँगी उनकी ठोकरों से मर न जाए। लेकिन कालू भँगी को इतनी मार खाकर भी कुछ न हुआ। दूसरे दिन वह नियमानुसार झाड़ू देने के लिए हमारे बँगले में मौजूद था।

कालू भँगी को जानवरों से बड़ा लगाव था। हमारी गाय तो उसपर जान छिड़कती थी, और कम्पौंडर साहब की बकरी भी। यद्यपि बकरी बड़ी बेवफा होती है, नारी से भी अधिक, लेकिन कालू भँगी की बात और थी। उन दोनों पशुओं को पानी पिलाए तो कालू भँगी, चारा खिलाए तो कालू भँगी। वे उसके एक-एक संकेत को इस प्रकार समझ जाती जैसे कोई व्यक्ति किसी मनुष्य के बच्चे की बातें समझता है। मैं कई बार कालू भँगी के पीछे गया हूँ। जंगल के रास्ते में वह उन्हें बिल्कुल खुला छोड़ देता था, लेकिन फिर भी गाय और बकरी दोनों उसके कदम से कदम मिलाए चले आते थे–जैसे तीन मित्र सैर करने निकले हों। रास्ते में गाय ने हरी घास देखकर मुँह मारा तो बकरी भी झाड़ी से पत्तियाँ खाने लगी और कालू भँगी है कि सुम्बलू तोड़-तोड़कर खा रहा है, और बकरी के मुँह में डाल रहा है और स्वयं भी खा रहा है; और आप ही आप बातें कर रहा है, और उससे भी बराबर बातें किए जा रहा है और वे दोनों पशु भी गुर्राकर, कभी कान फटफटाकर, कभी पाँव हिलाकर, कभी दुम दबाकर, कभी नाचकर, कभी गाकर, हर प्रकार से उसकी बातों में भाग ले रहे हैं। अपनी समझ में तो कुछ नहीं आता कि ये लोग क्या बातें करते थे। फिर कुछ क्षणों के बाद कालू भँगी आगे चलने लगता तो गाय भी चरना छोड़ देती और बकरी झाड़ी से परे हट जाती और कालू भँगी के साथ-साथ चलने लगती। आगे कहीं छोटी-सी नदी आती या कोई नन्हा-सा चश्मा तो कालू भँगी वहीं बैठ जाता बल्कि लेटकर वहीं चश्मे के स्तर से अपने होंठ मिला देता और पशुओं की तरह पानी पीने लगता और उसी प्रकार वे दोनों पशु भी पानी पीने लगते क्योंकि बेचारे मनुष्य तो थे नहीं कि होंठों से पी सकते। उसके बाद यदि कालू भँगी घास पर लेट जाता तो बकरी भी उसकी टाँगों के पास अपनी टाँगें सिकोड़कर प्रार्थना करने के ढंग पर बैठ जाती, और गाय तो इस प्रकार उसके निकट ही बैठती कि मुझे मालूम होता कि वह कालू भँगी की पत्नी है और अभी-अभी खाना पकाकर हटी है। उसकी हर नज़र में और चेहरे के हर उतार-चढ़ाव में एक शान्तिपूर्ण गृहस्थ जीवन झलकने लगता और जब वह जुगाली करने लगती तो मुझे मालूम होता जैसे कोई बड़ी सुघड़ पत्नी करोशिया लिए कशीदाकारी कर रही है, या कालू भँगी के लिए स्वेटर बुन रही है।

इस गाय और बकरी के अतिरिक्त एक लँगड़ा कुत्ता भी था जो कालू भँगी का बड़ा घनिष्ठ मित्र था। वह लँगड़ा था, इस कारण ही अन्य कुत्तों के साथ अधिक चल-फिर न सकता था और इसी कारण प्राय: अन्य कुत्तों से पिटता और भूखा रहता और घायल रहता था। कालू भँगी प्राय: उसकी मरहम-पटटी और पालन-पोषण में लगा रहता है। कभी तो उसे साबुन से नहलाता, कभी उसकी चिचड़ियाँ दूर करता और कभी उसे मक्की की रोटी का सूखा टुकड़ा देता; लेकिन यह

कुत्ता बड़ा स्वार्थी था। दिन में केवल दो बार कालू भँगी से मिलता, दोपहर को और शाम को। और खाना खाकर, घाव पर मरहम लगवाकर फिर घूमने के लिए चल देता। कालू भँगी और लँगड़े कुत्ते की मुलाकात बड़ी संक्षिप्त होती थी, लेकिन बड़ी दिलचस्प। मुझे तो वह कुत्ता एक आँख न भाता था, लेकिन कालू भँगी उससे बड़े आदर से मिलता।

उसके अतिरिक्त कालू भँगी का जंगल के हर पशु-पक्षी से परिचय था। रास्ते में उसके पाँव-तले कोई कीड़ा आ जाता तो वह उसे उठाकर झाड़ी पर रख देता। कहीं कोई नेवला बोलने लगता तो वह उसकी बोली में उसका उत्तर देता। तीतर, रतगल्ला, गुटारी, लालचिड़ा; हर पक्षी की बोली वह जानता था। इस दृष्टि से वह राहुल सांकृत्यायन से भी बड़ा पंडित था। कम से कम मेरे जैसे सात वर्ष के बालक की दृष्टि में तो वह मुझे अपने माता-पिता से भी अच्छा मालूम होता था; और फिर वह मक्की का भुट्टा ऐसा मज़ेदार तैयार करता था और उसे इस तरह हल्की आँच पर भूनता था जैसे वह वर्षों से उस भुट्टे को जानता हो। एक मित्र की तरह वह भुट्टे से बातें करता। इस नरमी और प्यार से उससे पेश आता जैसे वह भुट्टा उसका अपना सम्बन्धी या सगा भाई हो। और लोग भी भुट्टा भूनते थे लेकिन वह बात कहाँ! ऐसे कच्चे, बेस्वाद और मामूली-से भुट्टे होते थे वे कि उन्हें बस मक्की का भुट्टा ही कहा जा सकता था; लेकिन कालू भंगी के हाथों में पहुँचकर वही भुट्टा कुछ का कुछ हो जाता; और जब वह आग पर सिंककर बिल्कुल तैयार हो जाता तो बिल्कुल एक नई नवेली दुलहिन की तरह, शादी का जोड़ा पहने, सुनहला चमकता नज़र आता। मेरे ख्याल में स्वयं भुट्टे को यह अनुमान हो जाता था कि कालू उससे कितना प्रेम करता है, अन्यथा प्रेम के बिना उस निर्जीव वस्तु में उतनी सुन्दरता कैसे उत्पन्न हो सकती थी। मुझे कालू भँगी के हाथ के सिंके हुए भुट्टे खाने में बड़ा आनन्द आता था और मैं उन्हें बड़े मज़े में छुप छुपकर खाता था! एक बार पकड़ा गया तो बड़ी ठुकाई हुई। बेचारा कालू भी पिटा, लेकिन दूसरे दिन वह फिर बंगले पर झाड़ू लिए उसी तरह हाज़िर था।

और बस कालू भँगी के सम्बन्ध में और कोई दिलचस्प बात याद नहीं आ रही। मैं बचपन से जवानी में आया और कालू भँगी वैसे का वैसा रहा। मेरे लिए अब वह कम दिलचस्प हो गया था, बल्कि यों कहिए कि मुझे उसमें किसी प्रकार की दिलचस्पी न रही थी। हाँ, कभी-कभी उसका व्यक्तित्व मुझे अपनी ओर खींचता। यह उन दिनों की बात है जब मैंने नया-नया लिखना शुरु किया था। मैं अध्ययन के लिए उससे प्रश्न करता और नोट लेने के लिए फाउण्टेन पेन और पैड साथ रख लेता।

''कालू भँगी! तुम्हारे जीवन में कोई खास बात है?''

''कैसी छोटे साहब?''

''कोई खास बात, अजीब अनोखी, नई?''

''नहीं, छोटे साहब!'' (यहाँ तक तो निरीक्षण कोरा रहा। अब आगे चलिए, सम्भव है...)

''अच्छा, तुम यह बताओ, तुम तनखाह लेकर क्या करते हो?'' हमने दूसरा सवाल पूछा।

''तनखाह लेकर क्या करता हूँ!'' वह सोचने लगता, ''आठ रुपए मिलते हैं मुझे...'' वह फिर उँगलियों पर गिनने लगता, ''चार रुपए का आटा लाता हूँ... एक रुपए का नमक, एक रुपए का तम्बाकू, आठ आने की चाय, चार आने का गुड़, चार आने का मसाला...कितने रुपए हो गए, छोटे साहब?''

''सात रुपए।''

''हाँ, सात रुपए! हर महीने एक रुपया बनिए को देता हूँ, कपड़े सिलवाने के लिए उससे कर्ज़ लेता हूँ ना? साल में दो जोड़े तो चाहिए। और छोटे साहब! कहीं बड़े साहब एक रुपया तनखाह में बढ़ा दें तो मज़ा आ जाए।''

''वह कैसे?''

''घी लाऊँगा एक रुपए का और मक्की के पराँठे खाऊँगा। कभी पराँठे नहीं खाए मालिक! बड़ा जी चाहता है।''

अब बोलिए, इन आठ रुपयों पर कोई क्या कहानी लिखे?

फिर जब मेरी शादी हो गई, जब रातें जवान और चमकीली होने लगतीं और निकट के जंगल से शहद और कस्तूरी और जंगली गुलाब की लपटें आने लगतीं, और हिरन चौकड़ियाँ भरते हुए दिखाई देते, और तारे झुकते-झुकते कानों में खुसर-फुसर करने लगते, और किसी के रसीले होंठ, आनेवाले चुम्बनों का ख्याल करके काँपने लगते–उस समय भी मैं कालू भँगी के सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहता और पेंसिल-कागज लेकर उसके पास जाता।

''कालू भँगी, तुमने ब्याह नहीं किया?''

''नहीं, छोटे साहब!''

''क्यों?''

''इस इलाके में मैं ही एक भँगी हूँ, और दूर-दूर तक कोई भँगी नहीं है छोटे साहब! फिर हमारी शादी कैसे हो सकती है?''

(लीजिए, यह रास्ता भी बन्द हुआ।)

''तुम्हारा जी नहीं चाहता कालू भँगी?'' मैंने दुबारा कोशिश करके कुरेदना चाहा।

''क्या साहब?''

''प्रेम करने को जी चाहता है तुम्हारा? शायद किसी से प्रेम किया होगा तुमने, जभी तुमने अभी तक शादी नहीं की।''

''प्रेम क्या होता है छोटे साहब?''

"औरत से प्रेम करते हैं लोग।"

"प्रेम कैसे करते हैं साहब? शादी तो ज़रूर करते हैं सब लोग। बड़े लोग प्रेम भी करते होंगे छोटे साहब! लेकिन हमने नहीं सुना, वह जो कुछ आप कह रहे हैं। रही शादी की बात, यह मैंने आपको बता दी है। कैसे होती मेरी शादी आप बताइए!"

(हम क्या बताएँ ख़ाक!)

"तुम्हें दुख नहीं है कालू भँगी?"

"किस बात का छोटे साहब?"

हारकर मैंने उसके सम्बन्ध में लिखने का विचार छोड़ दिया।

आठ वर्ष हुए कालू भँगी मर गया। वह, जो कभी बीमार नहीं हुआ था, अचानक ऐसा बीमार पड़ा कि फिर कभी खाट से न उठा। उसे अस्पताल में दाखिल कर लिया गया था। वह अलग वार्ड में रहता था। कम्पौंडर दूर से उसके होंठ में दवा उँडेल देता और एक चपरासी उसके लिए खाना रख आता। वह अपने बरतन स्वयं साफ करता, अपना बिछौना स्वयं बिछाता, अपना मल-मूत्र स्वयं साफ करता और जब वह मर गया तो उसकी लाश को पुलिस वालों ने ठिकाने लगा दिया, क्योंकि उसका कोई वारिस नहीं था। वह हमारे यहाँ बीस वर्ष से रहता था, लेकिन हम कोई उसके सम्बन्धी थोड़े थे, इसलिए उसका अन्तिम वेतन भी सरकार ने जब्त कर लिया, क्योंकि उसका कोई वारिस नहीं था। और जब वह मरा उस दिन भी कोई विशेष बात न हुई। प्रतिदिन की तरह उस दिन भी अस्पताल खुला, डॉक्टर ने नुस्खे लिखे, कम्पौंडर ने तैयार किए, रोगियों ने दवा ली और घर लौट गए। फिर रोज़ की तरह अस्पताल भी बन्द हुआ और घर आकर हम सबने आराम से खाना खाया। रेडियों सुना और लिहाफ़ ओढ़कर सो गए। प्रात: उठे तो पता चला कि पुलिसवालों ने दया-भाव से कालू भँगी की लाश ठिकाने लगा दी। इसपर डॉक्टर साहब की गाय ने और कम्पौंडर साहब की बकरी ने दो दिन तक न कुछ खाया, न कुछ पिया और वार्ड के बाहर खड़े-खड़े बेकार चिल्लाती रहीं। पशुओं की जाति थी न आखिर!

अरे, तू झाड़ू लेकर आ पहुँचा? आखिर तू चाहता क्या है, बता?

कालू भँगी अभी तक वहाँ खड़ा है।

क्यों भई, अब तो मैंने सब कुछ लिख दिया; वह सब कुछ जो मैं तुम्हारे सम्बन्ध में जानता था। अब भी यहीं खड़े परेशान कर रहे हो, भगवान के लिए चले जाओ। क्या मुझसे कुछ छूट गया है, कोई भूल हो गई है? तुम्हारा नाम कालू, पेशा भँगी, इस इलाके से कभी बाहर नहीं गए, विवाह नहीं किया, प्रेम नहीं किया, जीवन में कोई विशेष घटना नहीं, कोई अचम्भा नहीं–जैसे प्रेमिका के होंठों में होता है, अपने बच्चे के प्यार में होता है, ग़ालिब के काव्य में होता है। कुछ भी तो नहीं हुआ तुम्हारे जीवन में! फिर मैं क्या लिखूँ–और क्या लिखूँ! तुम्हारा वेतन आठ रुपए,

चार रुपए का आटा, एक रुपए का नमक, एक रुपए का तम्बाकू, आठ आने की चाय, चार आने का गुड़, चार आने का मसाला–सात रुपए, और एक रुपया बनिए का–आठ रुपए हो गए। लेकिन आठ रुपए में कहानी नहीं होती, आजकल तो पचास-पचास, सौ में कहानी नहीं होती, लेकिन आठ रुपए में तो कोई कहानी हो ही नहीं सकती। फिर मैं तुम्हारे बारे में क्या लिख सकता हूँ? अब ख़िलजी ही को लो, अस्पताल में कम्पौंडर है, बत्तीस रुपए वेतन पाता है, पुरखाओं में निचले मध्यम वर्ग के माँ-बाप मिले थे, जिन्होंने मिडिल तक पढ़ा दिया। फिर ख़िलजी ने कम्पौंडरी की परीक्षा पास कर ली। वह जवान है, उसके चेहरे पर रंग है। यह जवानी, यह रंगत कुछ चाहती है। वह श्वेत लट्ठे की सलवार पहन सकता है, कमीज पर कलफ लगा सकता है। बालों में सुगन्धित तेल लगाकर कंघी कर सकता है। सरकार ने उसे रहने के लिए एक छोटा-सा क्वार्टर भी दे रखा है। डॉक्टर चूक जाए तो फ़ीस भी झाड़ लेता है और सुन्दर रोगिणियों से प्रेम भी कर लेता है। वह नूराँ और ख़िलजी की घटना तुम्हें याद होगी। नूराँ 'भीता' से आई थी, सोलह-सत्रह वर्ष की अल्हड़ जवानी, चार कोस से ही सिनेमा के रंगीन विज्ञापन की तरह नज़र आ जाती थी। बड़ी मूर्ख थी वह। अपने गाँव के दो नौजवानों का प्रेम पाए बैठी थी। जब नम्बरदार का लड़का दिखाई देता तो उसका मन उधर मुड़ने लगता। और वह कोई निश्चय ही न कर पाती। अधिकतर लोग प्रेम को एक बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित बात मानते हैं, यद्यपि वास्तव में यह बिल्कुल अनिश्चित और असमंजस की हालत लिए होता है–अर्थात् प्रेम उससे भी है, इससे भी है; और फिर शायद कहीं नहीं है, और है, और है भी तो ऐसा सामयिक कि इधर नज़र चूकी, उधर प्रेम गायब! सच्चाई अवश्य होती है लेकिन स्थिरता नहीं होती। इसीलिए तो नूराँ कोई निश्चय न कर पाती थी। उसका हृदय नम्बरदार के बेटे के लिए भी धड़कता था और पटवारी के पूत के लिए भी। उसके होंठ नम्बरदार के बेटे के होंठों से मिल जाने के लिए बेचैन हो उठते, और पटवारी के पूत की आँखों में आँखें डालते ही उसका हृदय यों काँपने लगता जैसे चारों ओर समुद्र हो, चारों ओर लहरें हो, और एक अकेली नाव हो; और नाजुक-सी पतवार हो और कोई न हो और नाव डोलने लगे, हौले-हौले डोलती जाए और नाजुक-सी पतवार नाजुक-से हाथों में चलती-चलती थम जाए और श्वास रुकते-रुकते रुक-सा जाए, और आँखें झुकती-झुकती झुक-सी जाएँ, और केश बिखरते-बिखरते बिखर-से जाएँ, और लहरें, घूम-घूमकर घूमती हुई मालूम हों; और बड़े-बड़े दायरे फैलते-फैलते फैल जाएँ, और फिर चारों ओर सन्नाटा फैल जाए, और हृदय एकदम धक् से रह जाए, और कोई अपनी बाँहों में भींच ले। हाय! पटवारी के बेटे को देखने से ऐसी ही हालत होती थी नूराँ की, और वह कोई निश्चय न कर पाती थी। नम्बरदार का बेटा, पटवारी का बेटा... पटवारी का बेटा, नम्बरदार का बेटा! वह दोनों को वचन दे चुकी थी, दोनों से शादी करने का इक़रार कर चुकी थी। दोनों पर मर मिटी थी। परिणाम यह हुआ कि वे आपस में लड़ते-लड़ते लहूलुहान हो गए और जब जवानी का बहुत-सा लहू रगों से निकल गया तो उन्हें अपनी मूर्खता पर बहुत क्रोध आया; और पहले नम्बरदार का बेटा नूराँ के पास पहुँचा, और अपनी छुरी से उसका वध करना चाहा, और नूराँ की भुजा पर घाव आए और फिर पटवारी का पूत आया और उसने उसकी जान लेनी चाही और नूराँ के पाँव पर घाव आए;

परन्तु वह बच गई, क्योंकि वह समय पर अस्पताल लाई गई थी, और यहाँ उसकी चिकित्सा शुरू हो गई। आखिर अस्पताल वाले भी मनुष्य होते हैं। सुन्दरता दिलों पर प्रभाव डालती है, इंजेक्शन की तरह, उसका थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य होता है। किसी पर कम, किसी पर अधिक। डॉक्टर साहब पर कम था कम्पौंडर पर अधिक था। ख़िलजी नूराँ की सेवा में तन-मन से लगा रहा। नूराँ से पहले बेगमाँ, बेगमाँ से पहले रेशमाँ, और रेशमाँ से पहले जानकी के साथ भी ऐसा ही हुआ था, लेकिन वह ख़िलजी के असफल प्रेम थे, क्योंकि वे औरतें ब्याही हुई थीं, रेशमाँ के तो एक बच्चा भी था, बच्चे के अतिरिक्त माता-पिता थे, और पति थे; और पतियों की दुश्मन नज़रें थीं, जो जैसे ख़िलजी की छाती में घुसकर उसकी आकांक्षाओं के अन्तिम कोने तक पहुँच जाना चाहती थीं। ख़िलजी क्या कर सकता? विवश होकर रह जाता। उसने बेगमाँ से प्रेम किया, रेशमाँ और जानकी से भी। वह प्रतिदिन बेगमाँ के भाई को मिठाई खिलाता था। रेशमाँ के नन्हे-से बेटे को दिन-भर उठाए फिरता था। जानकी को फूलों से बड़ा प्रेम था। वह प्रतिदिन प्रात: उठकर मुँह अन्धेरे जंगल की ओर चला जाता और सुन्दर फूलों के गुच्छे तोड़कर उसके लिए लाता। सर्वोत्तम औषधियाँ, सर्वोत्तम खाने, सर्वोत्तम देख-भाल, लेकिन समय आने पर जब बेगमाँ अच्छी हुई तो रोते-रोते अपने पति के साथ चली गई, और जब रेशमाँ अच्छी हुई तो अपने बेटे को लेकर चली गई; और जानकी अच्छी हुई तो चलते समय उसने ख़िलजी के दिए हुए फूल अपनी छाती से लगाए, उसकी आँखें भर आईं और फिर उसने अपने पति का हाथ थाम लिया और चलते-चलते घाटी की ओट में गायब हो गई। घाटी के अन्तिम छोर पर पहुँचकर उसने मुड़कर ख़िलजी की ओर देखा और ख़िलजी मुँह फेरकर वार्ड की दीवार के सहारे से लगकर रोने लगा। रेशमाँ के विदा होते समय भी वह उसी प्रकार रोया था। बेगमाँ के जाते समय भी उसी प्रकार, उसी दुख के वशीभूत होकर रोता था, लेकिन ख़िलजी के लिए न रेशमाँ रुकी, न बेगमाँ न जानकी; और अब कितने वर्षों के बाद नूराँ आई थी और उसका हृदय उसी प्रकार धड़कने लगा था, और यह धड़कन दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जाती थी। शुरु-शुरु में तो नूराँ की हालत बुरी थी, उसका बचना कठिन था, लेकिन ख़िलजी की अनथक कोशिशों से घाव भरते चले गए, पीप कम होती गई, दुर्गन्ध दूर होती गई, सूजन गायब होती गई, नूराँ की आँखों में चमक और उसके सफ़ेद चेहरे पर स्वास्थ्य की लालिमा आती गई; और जिस दिन ख़िलजी ने उसकी बाँहों की पट्टी उतारी तो नूराँ विनय-भाव के वशीभूत हो उसकी छाती से लिपटकर रोने लगी, और जब उसके पाँव की पट्टी उतारी तो उसने अपने हाथ और पाँव में मेंहदी रचाई और आँखों में काजल लगाया और बालों की लटें सँवारी तो ख़िलजी का हृदय प्रसन्नता से चौकड़ियाँ भरने लगा। नूराँ ख़िलजी को दिल दे बैठी थी। उसने ख़िलजी से शादी का वायदा कर लिया था। नम्बरदार का बेटा और पटवारी का बेटा दोनों बारी-बारी कई बार उसे देखने के लिए, उससे क्षमा माँगने के लिए, उससे शादी का वचन लेने के लिए अस्पताल आए थे, और नूराँ उन्हें देखकर हर बार घबराकर काँपने लगती, मुड़-मुड़कर देखने लगती और उस समय तक उसे चैन न पड़ता जब तक कि वे लोग चले न जाते; और ख़िलजी उसके हाथ को अपने हाथ में न ले लेता। और जब वह बिल्कुल अच्छी हो गई तो सारा गाँव, उसका अपना गाँव उसे देखने के लिए उमड़ पड़ा। गाँव

की छोरी अच्छी हो गई थी–डॉक्टर साहब और कम्पौंडर साहब की कृपा से; और नूराँ के माँ-बाप बिछे जाते थे; और आज तो नम्बरदार भी आया था और पटवारी भी, और वे दोनों मूर्ख लड़के भी, जो अब नूराँ को देख-देखकर अपने किए पर पछता रहे थे। और फिर नूराँ ने अपनी माँ का सहारा लिया और काजल में तैरती हुई डबडबाई आँखों से ख़िलजी की ओर देखा और चुपचाप अपने गाँव चली गई। सारा गाँव उसे लेने आया था, और उसके कदमों के पीछे-पीछे नम्बरदार के बेटे और पटवारी के बेटे के कदम थे और ये कदम और दूसरे कदम और दूसरे कदम और सैकड़ों कदम जो नूराँ के साथ चल रहे थे, ख़िलजी की छाती की घाटी पर से गुज़रते गए, और पीछे एक धुँधला, धूल से अटा हुआ मार्ग छोड़ गए।

और कोई वार्ड की दीवार के साथ लगकर सिसकियाँ लेने लगा।

बड़ा सुन्दर रोमाँच-भरा जीवन था। ख़िलजी बत्तीस रुपया वेतन पाता था, पन्द्रह-बीस रुपया ऊपर से कमा लेता था। ख़िलजी जो जवान था, जो प्रेम करता था, जो एक छोटे-से बँगले में रहता था, जो अच्छे लेखकों की कहानियाँ पढ़ता और प्रेम में रोता था। कैसा दिलचस्प, रोमाँच और प्रसन्नता-भरा जीवन था ख़िलजी का लेकिन कालू भँगी के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूँ सिवाय इसके कि–

1. कालू भँगी ने बेगमाँ की लहू और पीप से भरी हुई पट्टियाँ धोईं।
2. कालू भँगी ने बेगमाँ का मल-मूत्र साफ किया।
3. कालू भँगी ने रेशमाँ की गन्दी पट्टियाँ साफ कीं।
4. कालू भँगी रेशमाँ के बेटे को मक्की के भुट्टे खिलाता था।
5. कालू भँगी ने जानकी की गन्दी पट्टियाँ धोईं और प्रतिदिन उसके कमरे में फिनायल छिड़कता रहा और शाम से पहले वार्ड की खिड़की बन्द करता रहा और अँगीठी में लकड़ियाँ जलाता रहा, ताकि जानकी को शीत न लगे।
6. कालू भँगी नूराँ का पाख़ाना उठाता रहा–तीन मास दस दिन तक।

कालू भँगी ने रेशमाँ को जाते हुए देखा, उसने जानकी को जाते हुए देखा, उसने नूराँ को जाते हुए देखा, लेकिन वह कभी दीवार से लगकर नहीं रोया। वह पहले तो कुछ क्षणों के लिए हैरान हो जाता, फिर उसी आश्चर्य से अपना सिर खुजाने लगता और जब कोई बात उसकी समझ में न आती तो वह अस्पताल के नीचे खेतों में चला जाता और गाय से अपनी चिंदिया चटवाने लगता। परन्तु इसका वर्णन तो मैं पहले कर चुका हूँ, फिर और क्या लिखूँ तुम्हारे बारे में कालू भँगी? सब कुछ तो कह दिया जो कुछ कहना था, जो कुछ तुम रहे हो। तुम्हारा वेतन बत्तीस रुपया होता, तुम मिडिल पास या फेल होते, तुम्हें विरासत में कुछ सभ्यता, संस्कृति, कुछ थोड़ा-सा मानव-उल्लास और उस उल्लास का शिखर मिला होता तो मैं तुम्हारे सम्बन्ध में कोई कहानी लिखता। अब तुम्हारे आठ रुपए में मैं क्या कहानी लिखूँ। हर बार उन आठ रुपयों को उलट-फेर कर देता हूँ–चार रुपए का आटा, एक रुपए का नमक, एक रुपए का तम्बाकू, आठ आने

की चाय, चार आने का गुड़, चार आने का मसाला–सात रुपए, और एक रुपया बनिए का–आठ रुपए हो गए। कालू भँगी, तुम्हारी कहानी कैसे बनेगी? तुम्हारी कहानी मुझसे न लिखी जाएगी। चले जाओ, देखो मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूँ।

लेकिन यह मनहूस अभी तक यहीं खड़ा है। अपने पीले-पीले गन्दे दाँत निकाले, अपनी फूटी हँसी-हँस रहा है।

तू ऐसे नहीं जाएगा! अच्छा भाई, अब मैं फिर अपनी स्मृतियों की राख कुरेदता हूँ। शायद तेरे लिए अब मुझे बत्तीस रुपयों से नीचे उतरना पड़ेगा और बख़्तियार चपरासी का सहारा लेना पड़ेगा। बख़्तियार चपरासी को पन्द्रह रुपए वेतन मिलता है, और जब कभी वह डॉक्टर या कम्पौंडर या वैक्सीनेटर के साथ दौरे पर जाता है तो उसे डबल भत्ता और सफ़र-खर्च भी मिलता है। फिर गाँव में उसकी अपनी ज़मीन भी है, और एक छोटा-सा मकान भी, जिसके तीन ओर चीड़ के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं, और एक सुन्दर-सा बगीचा है, जो उसकी पत्नी ने लगाया है। उसमें उसने कड़म का साग बोया है, और पालक, और मूलियाँ, और शलजम, और हरी मिरचें, और बड़ी झल्लें, और कद्दू–जो गरमियों की धूप में सुखाए जाते हैं, और सर्दियों में जब बर्फ पड़ती है और हरियाली मर जाती है, तो खाए जाते हैं। बख़्तियार की पत्नी यह सब कुछ जानती है। बख़्तियार के तीन बच्चे हैं, उसकी बूढ़ी माँ है, जो सदैव बहू से झगड़ा करती रहती है। एक बार बख़्तियार की माँ अपनी बहू से झगड़ा करके घर चली गई थी। उस दिन आकाश पर गहरे बादल छाए हुए थे। मारे पाले के दाँत बज रहे थे। घर से बख़्तियार का बड़ा लड़का अम्माँ के साथ दादी के चले जाने की सूचना लेकर दौड़ता-दौड़ता अस्पताल आया था। बख़्तियार उसी समय अपनी माँ को वापस लाने के लिए कालू भँगी को साथ लेकर चल दिया था। वे दिन-भर उसे जंगल में ढूँढ़ते रहे–वह और कालू भँगी और बख़्तियार की पत्नी; बहू अपने किए पर पछता रही थी। अपनी सास को ऊँची आवाज़ें देने के साथ-साथ रोती जाती थी। आकाश पर बादल छाए हुए थे और सर्दी से हाथ-पाँव सुन्न हुए जाते थे और पाँव तले चीड़ के सूखे झूमर फिसले जाते थे। फिर वर्षा शुरु हो गई, बर्फ पड़ने लगी और फिर चारों ओर गहरी चुप्पी छा गई और जैसे एक गहरी मृत्यु ने अपने दरवाज़े खोल दिए हों, और बर्फ की परियों को पंक्ति में बाहर धरती पर भेज दिया हो। बर्फ के गोले धरती पर गिरते गए : मौन, शान्त सफेद मखमल घाटियों, वादियों और चोटियों पर फैल गई।

"अम्माँ-ाँ-ाँ-ाँ!" बख़्तियार की पत्नी ज़ोर से चिल्लाई।

''अम्माँ!'' बख़्तियार चिल्लाया।

''अम्माँ!'' कालू भँगी ने आवाज़ दी।

जंगल गूँजकर मौन हो गया।

फिर कालू भँगी ने कहा, ''मेरा ख्याल है वह नक्कर गई होगी, तुम्हारे मामूँ के पास।''

नक्कर से दो कोस इधर उन्हें बख़्तियार की अम्माँ मिली। बर्फ गिर रही थी और वह चली

जा रही थी; गिरती, पड़ती, लुढ़कती, थमती, हाँफती, काँपती आगे बढ़ती चली जा रही थी, और जब बख़्तियार ने उसे पकड़ा तो एक क्षण के लिए उसने प्रतिरोध किया, फिर वह उसकी बाँह पर गिरकर मूर्छित हो गई, और बख़्तियार की पत्नी ने उसे थाम लिया और रास्ता-भर वे उसे बारी-बारी से उठाते चले आए–बखतियार और कालू भँगी। और जब लोग वापस घर पहुँचे तो बिल्कुल अन्धेरा हो चुका था और उन्हें वापस आते देखकर बच्चे रोने लगे और कालू भँगी एक ओर होकर खड़ा हो गया और अपना सिर खुजाने लगा, और इधर-उधर देखने लगा। फिर उसने धीरे-से दरवाज़ा खोला और वहाँ से चला आया। हाँ, बख़्तियार के जीवन में भी कहानियाँ हैं, छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ लेकिन कालू भँगी! मैं तुम्हारे बारे में क्या लिख सकता हूँ? मैं अस्पताल के प्रत्येक व्यक्ति के बारे में कुछ न कुछ अवश्य लिख सकता हूँ, लेकिन तुम्हारे सम्बन्ध में इतना कुछ कुरेदने के बाद भी समझ में नहीं आता कि तुम्हारा क्या किया जाए। भगवान के लिए अब तो चले जाओ, बहुत सता लिया तुमने!

लेकिन मुझे मालूम है, यह जाएगा नहीं। इसी प्रकार मेरे मस्तिष्क पर सवार रहेगा ़ और मेरी कहानियों में अपनी गन्दी झाड़ लिए खड़ा रहेगा। अब मैं समझता हूँ तू क्या चाहता है। तू वह कहानी सुनना चाहता है, जो अभी हुई नहीं, लेकिन हो सकती थी। मैं तेरे पाँव से आरम्भ करता हूँ। सुन तू चाहता है न, कि कोई तेरे गन्दे खुरदरे पाँव धो डाले, धो-धोकर उनसे गन्दगी दूर करे। उनकी बिवाइयों पर मरहम लगाए। तू चाहता है तेरे घुटनों की उभरी हुई हड्डियाँ माँस में छिप जाएँ, तेरी जाँघों में कठोरता और बल आ जाए। तेरे पेट की मुरझाई हुई सलवटें गायब हो जाएँ, तेरी कमज़ोर छाती के धूल से अटे हुए बाल गायब हो जाएँ। तू चाहता है, कोई तेरे होंठों में रस डाल दे, उन्हें वाक्-शक्ति प्रदान कर दे। तेरी आँखों में चमक डाल दे, तेरे गालों में लहू भर दे, तेरी चिंदिया को घने बालों में ढक दे, तुझे साफ-सुथरे वस्त्र दे दे, तेरे इर्द-गिर्द एक छोटी-सी चारदीवारी खड़ी कर दे–सुन्दर! स्वच्छ!! उनमें तेरी पत्नी राज करे, तेरे बच्चे कहकहे लगाते फिरें। जो कुछ तू चाहता है, वह मैं नहीं कर सकता। मैं तेरे टूटे-फूटे दाँतों की हँसी पहचानता हूँ। जब तू गाय से अपना सिर चटवाता है तो मुझे मालूम होता है कि तू अपनी कल्पना में अपनी पत्नी को देखता है जो तेरे बालों में अपनी उँगलियाँ फेरकर तेरा सिर सहलाती है, यहाँ तक कि तेरी आँखें बन्द हो जाती हैं, तेरा सिर झुक जाता है, और तू उसकी कृपालु गोद में सो जाता हैं, और जब तू मेरे लिए आग पर धीरे-धीरे भुट्टा सेंकता है और मुझे जिस प्रेम और स्नेह से वह भुट्टा खिलाता है, तू अपने मस्तिष्क की गहराई में उस नन्हें बच्चे को देख रहा होता है जो तेरा बेटा नहीं है, जो अभी नहीं आया, जो तेरे जीवन में कभी नहीं आएगा, लेकिन जिससे तूने एक बाप की तरह प्रेम किया है। तूने उसे गोदी में खिलाया है। उसका मुँह चूमा है। उसे अपने कन्धे पर बिठाकर संसार-भर में घुमाया है। देख लो, यह मेरा बेटा, यह है मेरा! और जब यह सब कुछ तुझे नहीं मिला तो तू सबसे अलग होकर खड़ा हो गया और आश्चर्य से अपना सिर खुजाने लगा और तेरी उँगलियाँ आप ही आप गिनने लगीं–एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ रुपए। मैं

तेरी वह कहानी जानता हूँ जो हो सकती थी, लेकिन हो न सकी, क्योंकि मैं कहानीकार हूँ। मैं एक नई कहानी घड़ सकता हूँ, एक नया मनुष्य नहीं घड़ सकता। उसके लिए मैं अकेला काफी नहीं हूँ, इसके लिए कहानीकार और उसका पढ़नेवाला और डॉक्टर और कम्पौंडर और बख़्तियार और गाँव के पटवारी और नम्बरदार और दुकानदार और शासक और राजनीतिज्ञ और मज़दूर और खेतों में काम करने वाले किसान, प्रत्येक व्यक्ति की, लाखों-करोड़ों-अरबों व्यक्तियों की इकट्ठी सहायता चाहिए। मैं अकेला विवश हूँ, कुछ नहीं कर पाऊँगा। जब तक हम सब मिलकर एक-दूसरे की सहायता न करेंगे, यह काम न होगा, और तू इसी प्रकार अपनी झाड़ू लिए मेरे मस्तिष्क के दरवाज़े पर खड़ा रहेगा और मैं कोई महान् कहानी न लिख सकूँगा जिसमें मानव-आत्मा का पूर्ण उल्लास झलक उठे, और कोई मेमार महान भवन न बना सकेगा जिसमें हमारी जाति की महानता अपने शिखरों को छू ले, और कोई ऐसा गीत न गा सकेगा जिसकी गहराइयों में विश्व का सारा रहस्य छलक-छलक जाए!

यह भरपूर जीवन सम्भव नहीं, जब तक तू झाड़ू लिए यहाँ खड़ा है!

अच्छा है, खड़ा रह। फिर शायद कभी वह दिन आ जाए कि कोई तुझसे तेरी झाड़ू छुड़ा दे, और तेरे हाथों को नरमी से थामकर इन्द्रधनुष के उस पार ले जाए।

पुँछ की क्लियोपैट्रा

जैसे किसी छोटे-से कमरे में कोई हीरा पड़ा हो तो सारा कमरा जगमगाने लगता है, उसी तरह किसी छोटे-से शहर में कोई बहुत ही सुन्दर औरत पैदा हो जाए तो सारा शहर उसके सौन्दर्य से जगमगाने लगता है, गलियों, कूचों, बाज़ारों, दफ़्तरों में उसकी चर्चा होने लगती है। अगर वह अपने मुहल्ले से गुज़रकर किसी दूसरे मुहल्ले में जाती है तो सारे शहर में उसकी खबर फैल जाती है। अगर वह कभी किसी बाज़ार से गुज़रती है, तो फिर घंटों उस छोटे-से शहर के बाज़ार में कोई काम नहीं हो सकता। किस तरह वह चल रही थी? कौन-से कपड़े उसने पहन रखे थे? कौन उसके साथ था? किस तरफ उसकी निगाह उठी थी? ये सब बातें कोई स्कैण्डल फैलाने की ग़र्ज़ से नहीं की जाती हैं, उन बातों में किसी किस्म की बदनीयती का कड़वापन भी नहीं होता है बल्कि छोटे-से शहर के लोगों में उस अत्यन्त सुन्दर स्त्री के लिए एक अजीब तरह का प्यार, एक अजीब तरह का अपनापन पैदा हो जाता है। अपनेपन के साथ यह गर्व भी होता है कि हमारे छोटे-से शहर ने इसे पैदा किया है। वह औरत अपने शहर का गौरव ओर आभूषण समझी जाने लगती है। ज़रा-सी भूल पर क्रुद्ध हो जाने वाले बुज़ुर्ग और शुद्ध आचरण वाले दढ़ियल इस गर्व से उस स्त्री की मुहब्बतों और बेवफ़ाइयों का ज़िक्र करते हैं, जैसे वे कोई ऐतिहासिक कारनामे हों। मालूम नहीं ऐसा क्यों होता है, मगर होता ज़रूर है कि बहुधा ऐसी औरत सभ्यता की गरिमा से ऊँची समझी जाने लगती है। शायद वह खुद एक सभ्य नियम बन जाती है, जिसके नियम प्रचलित सिद्धान्तों से भिन्न होते है; शायद ऐसी औरत अपने-आप में स्वयं एक मज़हब या धर्म होती है, एक छोटी-सी जीवन-व्यवस्था, अपने-आपमें पूरी और स्वतन्त्र! ऐसी औरत को हर तरह की छूट दे दी जाती है, मगर दूसरी औरत की मामूली से मामूली सामान्य भूल को भी मुआफ़ नहीं किया जाता, कुछ अजीब हिसाब है। ऐसी स्त्री को पुरुष, समाज, इतिहास सब क्षमा कर देते हैं। याद कीजिए, हेलन, क्लियोपैट्रा और वसुन्धरा!... हेलन और क्लियोपैट्रा को तो आप सब जानते हैं, मगर वसुन्धरा का नाम आपने नहीं सुना होगा।

वसुन्धरा पुँछ की रहने वाली थी।

शायद बचपन में वह मेरे साथ खेली थी। मुझे कुछ ठीक तरह से वह ज़माना याद नहीं है। उसका घर नानबाइयों के बाज़ार के पीछे था। वहाँ पर एक शिवाला था। उसके सामने बहुत-सी ज़मीन खाली पड़ी थी। फिर हमारे दूर-पार के एक रिश्तेदार का घर था, जो शहर का सबसे

अमीर आदमी था। कभी-कभी मैं उसके घर जाया करता था, कभी-कभी वसुन्धरा भी वहाँ खेलने के लिए आ जाती थी। मुझे उसके बचपन की सूरत ठीक तरह से याद नहीं है, क्योंकि बचपन में वह एक साधारण हँसमुख लड़की रही होगी, जैसी दूसरी साधारण सुन्दर लड़कियाँ होती हैं। कौन याद रखता है, फिर यह भी बहुधा देखा गया है कि बचपन में जो लड़कियाँ अत्यन्त सुन्दर दिखाई देती हैं, जवानी की सीमा में आते ही उनका हुलिया अजीब तरीके से बदल जाता है और वे उतनी खूबसूरत और हसीन मालूम नहीं होतीं। अक्सर यह भी देखा गया है कि बचपन में जिन लड़कियों की शक्ल व सूरत मामूली होती है बड़े होकर भी वे मामूली शक्ल व सूरत की रहती है, मगर कभी-कभार इन्हीं मामूली शक्ल व सूरत की लड़कियों में कोई एक ऐसी लड़की पैदा हो जाती है, जिसकी सुन्दरता जवानी की हदों को छूते-छूते ही आँखों में चकाचौंध पैदा करने लगती है। वसुन्धरा एक ऐसी ही लड़की थी। बचपन में मैंने कई बार देखा था, कई बार साथ खेला भी था, कभी ख़्याल ही नहीं किया। कई वर्ष गुज़र गए, वह चौदह वर्ष की हो गई, यह सुना कि वसुन्धरा बहुत खूबसूरत निकल रही है, फिर भी कुछ ख्याल नहीं किया, खूबसूरत लड़कियों वाले शहर में एक और लड़की का खूबसूरत निकल जाना कोई अचम्भे की बात नहीं। फिर जब उसके हुस्न के चर्चे बढ़ने लगे, तो उसके बाप मदन सिंह ने जो एक सुनार था, जल्दी से उसका ब्याह अपनी बिरादरी के एक लड़के गोपाल सिंह से कर दिया। गोपाल सिंह भी एक सुनार था और पुँछ के बाज़ार में ही उसकी दुकान थी और वह खुद भी शक्ल व सूरत का बहुत अच्छा था और घर का खाता-पीता था, मगर कोई खास बात न थी, बस शादी हो गई। कहीं कोई हलचल पैदा नहीं हुई। लोग उस शादी को दूसरे दिन ही भूल गए।

शादी के बाद वसुन्धरा का रंग-रूप एकाएक ऐसा निखरा, ऐसा निखरा कि नगरी में चारों तरफ उसके चर्चे होने लगे, उसके सुनहरी बालों, बड़ी-बड़ी मस्त आँखों और पिघले हुए सोने की-सी सुनहरी रंगत का बार-बार ज़िक्र होने लगा। उसके क़द की, उसकी चाल की, उसके कपड़ों की तारीफ होने लगी, उसके मुहल्ले के सौ-सौ फेरे किए जाने लगे, लोग घंटों वसुन्धरा की एक झलक देखने के लिए बेताब रहने लगे। जिधर से वह गुज़र जाती, जिस घर में वह जाती, जिधर से उसे गुजरना होता, यार लोग घण्टों पहले उस जगह के चक्कर लगाने लगते थे। शादी के बाद छ: माह में उसके सौंदर्य का शोहरा बच्चे-बच्चे की ज़ुबान पर था।

होते-होते वसुन्धरा की सुन्दरता का शोहरा दरबार तक पहुँचा, राजमहलों तक पहुँचा, इत्तिफाक से एक स्टेट सेक्रेटरी का घर वसुन्धरा के माँ-बाप के घर के बिल्कुल सामने स्थित था। वसुन्धरा के माँ-बाप का घर एकमंज़िला और मामूली-सा घर था। स्टेट सेक्रेटरी का घर वसुन्धरा के घर से बहुत बेहतर था, मगर था वह भी एकमंज़िला। इत्तिफाक ऐसा हुआ कि जब भी वसुन्धरा अपने माँ-बाप के घर आती और चूँकि दोनों घर अर्थात् मैके के और ससुराल के एक ही शहर में थे, इसलिए वसुन्धरा दिन में दो-एक चक्कर तो अपने मैके के लगाती थी... तो उसके आगमन के कुछ देर बाद ही कुँवरजी शाही गारद के सवारों की अर्दल में घोड़ा दौड़ाते हुए स्टेट सेक्रेटरी से मिलने के लिए चले आते। केवल मुलाकात करने के लिए या कोई

रियासती मशविरा करने के लिए, यह तो हमें मालूम नहीं कि क्या होता था, हाँ हौले-हौले उस स्टेट सेक्रेटरी का घर दो मंज़िला हो गया और वसुन्धरा के माँ-बाप का घर भी एकमंज़िला से दोमंज़िला हो गया। स्टेट सेक्रेटरी के घर का सारा साज़ व सामान भी बदल गया। वसुन्धरा के घर की दूसरी मंज़िल पर टीन की छत पड़ गई जो पुँछ में खुशहाली की आबरू समझी जाती है। वसुन्धरा की चाल-ढाल में शहज़ादियों की-सी शान-शौकत आ गई। वसुन्धरा थी एक मामूली सुनार की लड़की, एक साधारण सुनार की स्त्री, मगर कहने वाले यह कहते हैं कि वह परियों की रानी मालूम होती थी। एक बार हम लड़कों ने उसे भतिया के जंगल से वापस आते हुए देखा था, जहाँ वह कुँवरजी के साथ शिकार खेलने गई थी। उसके सुनहरे बाल उसके कन्धों से उठ-उठकर हवा में लहरा रहे थे। और उसका खुशियों से गुलनार चेहरा डूबते हुए सूर्य की लाली से दमक रहा था। वह राजकुमार के साथ-साथ काले रंग के एक बैलर घोड़े पर सवार, केसरिया रंग की बिरजिस और खुले कालरों का रेशमी ब्लाउज़ पहने हुए कोई पाकिस्तानी शहज़ादी मालूम होती थी। यह तो वह वसुन्धरा ही न थी जो बचपन में मेरे साथ खेलती थी। उसकी निगाह आकाश पर थी और उसके घोड़े के सुम भी ज़मीन से लगते मालूम नहीं होते थे।

अजब हुस्न व इश्क़ के दिन थे, जैसे सारा शहर इस इश्क़िया दास्तान में उलझा हो... दिन किसी उपन्यास के पृष्ठों की तरह दिलचस्प और रोमांटिक थे, कोई और बात ही न होती थी। फिर सुना कि कुँवरजी को एकबारगी इंग्लैंड भेज दिया गया है, उच्च शिक्षा हासिल करने के लिए। हर एक का दिल धक्-से रह गया, प्रत्येक व्यक्ति ने वसुन्धरा के दिल की पीड़ा और दुःख को महसूस किया। इश्क़ की सहानुभूति और मजबूरी से हर शख्स चूर-चूर था, हर शख्स ने वसुन्धरा की आँखों में आँसू देखे। मुमकिन है वहाँ कोई आँसू न थे, मगर हम सबने उसकी आँखों में आँसू देखे। और एक सुन्दर औरत के विरह की आग को अपने दिल में महसूस किया।

चन्द माह बाद सुना कि वसुन्धरा एक बहुत बड़े अफसर की कोठी के आलीशान बाग में टहलती देखी गई, वजीर मानिकराय एक सुन्दर डोगरा राजपूत था और जम्मू के एक ऊँचे खानदान का व्यक्ति था और हाकिमों के तबक़े से तअल्लुक़ रखता था। मन्त्री होने के नाते उसके हाथ में ताकत भी थी क्योंकि राजा साहब कुछ महीनों से बीमार थे और कुँवरजी लंदन में थे, इसलिए रियासत की पूरी ताकत खिंचकर मंत्री के हाथ में चली आई थी। चाँदनी रातों में फव्वारा बाग की रविशों पर लचकते हुए दो रोया फूलों की क्यारियों में टहलते हुए वसुन्धरा और मानिकराय को लोगों ने छुप-छुपकर देखा और फिर प्रधान मंत्री और वसुन्धरा की मुहब्बत की दास्तानें दुहराई जाने लगीं, जैसे वसुन्धरा ने कोई बेवफाई न की हो, बल्कि कोई दूसरा इलाक़ा फ़तह कर लिया हो। उसकी फ़तह के शादियाने हर दिल में थे। सारा शहर खुशियाँ मना रहा था। अब दरबार वसुन्धरा के मायके में लगता था, रियासत के कितने ही फैसले जो उस आला अफसर को खुद ही करने चाहिए थे वसुन्धरा खुद करती थी। हाकिमों के तबादले और तरक्कियाँ और पदच्युति और इनाम व इकराम और क्या कुछ...सारे शहर में वसुन्धरा का

बोलबाला था।

मैं उन दिनों मैट्रिक पास करके आगे पढ़ने के लिए लाहौर चला गया था। और फार्मन क्रिश्चियन कॉलेज लाहौर में फर्स्ट इयर क्लास में दाखिल हो गया था। दो साल बाद जब पुँछ आया, तो नक्शा ही बदला हुआ पाया। मंत्री मानिकराय की जगह नायब रेज़ीडेन्ट बहादुर ने ले ली थी। पुँछ में रेज़ीडेन्सी की एक शाखा थी, यहाँ पर एक नायब रेज़ीडेन्ट रहता था, तमाम महत्त्वपूर्ण विषयों में वह राजा साहब को मशवरे देता था और बहुधा उसके मशविरों पर अमल होता था। जब वसुन्धरा ने उस अँग्रेज़ रेज़ीडेन्ट का दिल जीत लिया और जब रेज़ीडेन्ट बहादुर साहब का घोड़ा वसुन्धरा के मायके के गिर्द, जो अब तीन-मंज़िला हो चुका था, देखा गया तो आश्चर्य की एक लहर सारे शहर में दौड़ गई। ऐसा लगा, जैसे पूरी बरतानवी सल्तनत का सिर एक हिन्दुस्तानी लड़की के कदमों में झुक गया। इससे पहले ऐसी घटना बूढ़े-बुज़ुर्गों की स्मृति में न थी। यह तो पहली बार ऐसा हुआ था कि रेज़ीडेन्ट बहादुर खुद चल के शहर के अन्दर किसी हिन्दुस्तानी के घर गए थे, वर्ना तो खुद राजा साहब को जब कोई मशवरा लेना होता तो वे खुद रेज़ीडेन्सी में जाते थे।

दो साल बाद जब मैं गर्मियों की छुट्टियों में पुँछ पहुँचा तो वसुन्धरा के हुस्न व जमाल का शोहरा उन्नति के शिखर पर था। अँग्रेज़ रेज़ीडेन्ट से इश्क़ करके वसुन्धरा ने गोया अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की सीमाओं को छू लिया था। मैं उसे देखने के लिए बहुत बेताब था। इस दौर में मैंने 'मादाम बोवारी' पढ़ ली थी और बहुत-से फ्राँसीसी उपन्यास। और मैं अब उन मशहूर फ्राँसीसी सुन्दरियों के नामों से भी परिचित हो चुका था, जिनकी ड्योढ़ियों पर फ्राँसीसी कैबिनेट के बड़े-बड़े वज़ीर सर झुकाते थे। हमारे शहर की भी एक औरत थी, ऐसी ही, मुझे उसे देखना ही चाहिए, करीब से...

मगर कैसे देखूँ?... मैंने अपने दोस्त अमरजीत सिंह से इसका ज़िक्र किया, जो खोड़ीनाड़ में रहता था, जिसके घर के चारों तरफ घने पेड़ों वाला एक बाग था और जिसके पिछवाड़े में एक पहाड़ी नाला शोर मचाता हुआ बहता था और जो दूर-पार से शायद वसुन्धरा का रिश्तेदार भी होता था। अमरजीत ने थोड़े टाल-मटोल के बाद मेरी बात मान ली और एक रोज़ किसी दावत में उसने वसुन्धरा को और उसके मायकेवालों को अपने घर खाने पर आमन्त्रित किया और उस दावत में मुझे भी खाने के लिए बुलाया। मुझे याद नहीं कि मैंने उस दावत में वसुन्धरा से कोई बात की हो। एक तो मैं उम्र में उससे चार-पाँच साल छोटा था, दूसरे अभी बिलकुल कच्चा और शर्मीला था, तीसरे शायद सुन्दरता के रौब ने ज़ुबान बन्द कर दी थी।

खाने के बाद हम अमरजीत के बाग में टहलने के लिए निकले। वे गर्मियों के दिन थे, बाग में सफेद और पीली चमेली फूली हुई थी। पेड़ों पर ख़ूबानियाँ गदराई हुई थीं और अनार की कलियों से सारा चमन याक़ूतरंग था। टहलते-टहलते वसुन्धरा ने ख़ूबानी के चन्द पेड़ों के नीचे खड़े होकर ऊपर देखा और कहने लगी:

"ख़ूबानियाँ उम्दा मालूम होती हैं।''

दूसरे लमहे एक पेड़ पर अमरजीत चढ़ गया, दूसरे पर मैं। चन्द मिनटों के बाद हम दोंनो ने बारी-बारी वसुन्धरा के सामने घास के एक तख्ते पर सैकड़ों ख़ूबानियाँ ढेर कर दीं।

थोड़ी देर में अमरजीत का एक चचा जो उसके घर में ही रहता था किसी और दरख्त से नीचे उतरा और वसुन्धरा के सामने ख़ूबानियों का बहुतेरा ढेर लगाकर झेंपता हुआ वापस चला गया। वह लगभग साठ बरस का रहा होगा। उसके बाल सफेद थे और जब वह चला गया तो वसुन्धरा नटखट लहज़े में बड़े जोर से हँसने लगी।

फिर एकदम से उसने अपनी उँगली मेरे गाल पर रख दी और बोली:

''अरे किसने! बचपन में तेरे गाल पर यहाँ एक गड्ढा पड़ता था, वह क्या हुआ?''

मैं इस क़दर झेंपा कि चेहरा कानों तक सुर्ख हो गया। जल्दी से वहाँ से भाग लिया, मैं एक शब्द भी तो उससे नहीं कह सका, बस उठकर वहाँ से भाग गया। दूर तक उसकी हँसी के चमेली के फूल मेरे कानों पर गिरते रहे। उसके बाद मैंने वसुन्धरा से मिलने की कभी कोशिश नहीं की। हाँ, उसकी वह उँगली मैंने अभी तक सम्भाल के रखी है, दिल के किसी गड्ढे में, क्योंकि अब तो मेरे गालों में गड्ढा नहीं पड़ता है, जो कभी बचपन में था और मैं बहुत बदल गया हूँ, मगर दिल में कई गड्ढे हैं। वह उँगली शहद की किसी क़लम की तरह अब भी रातों के अन्धेरे में मेरे गाल को छूती है और नटखट स्वर में मुझसे पूछती है, 'किसने! तेरे गाल का वह गड्ढा कहाँ गया?'

वसुन्धरा से किसी को शिकायत नहीं थी, यह कि वह बेवफा थी, यह कि उसने कई बार मुहब्बत की थी, यह कि उसने बहुत-सी मुहब्बतों को ठुकरा दिया था, यह कि उसने सिर्फ ऊँची जगहों पर इश्क़ किया था। किसी को उससे शिकायत नहीं थी, हम सब उसके शुक्रगुज़ार थे कि वह हममें पैदा हुई। ऐसा लगता था, जैसे हममें से हर एक को उससे अलग-अलग इश्क़ है। कुछ तो उसके इश्क़ की दास्तानें सच्ची भी थीं, कुछ गढ़ ली जाती थीं। हौले-हौले चन्द सालों में वसुन्धरा हमारे शहर की एक लीजेन्ड बन गई।

मगर उसके शौहर को उससे बहुत शिकायत थी। वह खुद बेहद सजीला नौजवान था, इसलिए उसका गिला जायज़ था, कि वह सिर्फ उससे इश्क़ क्यों नहीं करती है, जबकि वह खासा खुशहाल भी है, वह बेवफा और हरजाई क्यों है? लोग क्यों उसके हुस्न के गीत गाते हैं, उसके फ़िराक़ में आहें भरते हैं, उसे देखकर ठठ के ठठ बाँधकर खड़े हो जाते हैं। हौले-हौले उसका अपना कोई व्यक्तित्व न रहा था, वह अब केवल वसुन्धरा का पति था, हर समय उसके दिल में एक अजीब व ग़रीब लड़ाई चलती रहती। वह वसुन्धरा से अत्यन्त प्रेम करता था और वसुन्धरा भी उससे करती थी। वह कहीं भी जाती, आखिर को तो उसके पास आती थी। वही तो उसका पति था और कोई दूसरा न हो सकता था, मगर कभी-कभी उसको इतना गुस्सा आता कि उसका दिल वसुन्धरा को पीटने के लिए चाहने लगता; मगर वसुन्धरा को देखते ही उसका दिल पिघल जाता और वह उसे मारने के बजाय उसके कदमों में झुक जाता। मगर वसुन्धरा के

कदमों में झुकते हुए भी दुनियावालों के लिए उसका क्रोध बढ़ जाता, वह सारी ज़िम्मेदारी बाहर की दुनिया पर डाल देता, जो वसुन्धरा के विचित्र सौन्दर्य से प्रभावित होकर इस जोड़े के गृहस्थ जीवन को बिगाड़ती है, और इन दोनों को चैन से नहीं रहने देती।

जब इस तरह वसुन्धरा के तीन-चार किस्से हो गए और जब रेज़ीडेन्ट बहादुर वाला रोमान्स ज़ोर पकड़ने लगा, तो वसुन्धरा के पति ने शहर छोड़ने की ठान ली... वह पुँछ छोड़ देगा और हसीन बीवी को लेकर कहीं और चला जाएगा, किसी दूर-दराज़ के इलाके में जहाँ इस शहर के हुस्न व इश्क़ की चर्चा की छाया भी उन तक न फटके।

उसने पुँछ छोड़कर जाने की ठान ली और हौले-हौले उसने वसुन्धरा को भी इस बात के लिए राज़ी कर लिया। पहले तो वसुन्धरा पुँछ छोड़ने के लिए कदापि तैयार न थी, लेकिन जब गोपाल ने उसे छोड़ देने की धमकी दी, तो आखिर औरत थी, राज़ी हो गई और अपने शौहर के साथ राजौरी जाने को तैयार हो गई।

चुपके-चुपके वसुन्धरा के पति ने जाने की सारी तैयारी कर ली, उसने किसी को नहीं बताया कि वह पुँछ छोड़ रहा है, वसुन्धरा को उसने खबरदार कर दिया था कि इस बात से किसी को आगाह न करे।

मगर न जाने किस तरह से यह खबर सारे शहर में फैल गई, जगह-जगह नाकों और नुक्कड़ों पर और बाज़ारों में और गली-कूचों में और दफ़्तरों में यह ज़िक्र होने लगा कि गोपाल वसुन्धरा को लेकर जा रहा है, हमेशा के लिए पुँछ छोड़ रहा है, और कौन उसे मना कर सकता है? गोपाल वसुन्धरा का पति है, वसुन्धरा अपने पति के साथ जा रही है।

सारे शहर पर जैसे बिजली-सी गिर पड़ी, सब सन्न थे, मगर मुँह से कुछ कह नहीं सकते थे, एक-दूसरे से कानाफूसी में बातचीत करते थे। सबके चेहरे सहमे हुए थे, जैसे शहर पर कोई बहुत बड़ी आफ़त आने वाली हो।

जाने का वक्त आ गया। वसुन्धरा के पति ने सुबह-सवेरे सारा सामान छ: ख़च्चरों पर लदवाकर उन्हें पहले से रवाना कर दिया, निगाली साहब की तरफ... जाने से पहले वे दोनों निगाली साहब के गुरुद्वारे में हाज़िर होके अपने-अपने पापों से मुक्त होंगे और फिर एक नई ज़िन्दगी शुरु करने के लिए राजौरी चले जाएँगे। निगाली साहब का गुरुद्वारा शहर से चार मील बाहर एक रमणीक पहाड़ी मुक़ाम पर था। रास्ता कठिन था, एक जगह पर एक खतरनाक नाले पर लकड़ी का एक पुल आता था; उसे पार करने के बाद एक भयानक उतराई उतरकर पुँछ के दरिया के एक हिस्से को पैदल चलकर पार करना पड़ता था, क्योंकि यहाँ पर दरिया का पाट इतना चौड़ा था कि यहाँ पर कोई पुल न था, इसीलिए वसुन्धरा के पति ने सामानवाले खच्चरों को सुबह-सवेरे निगाली साहब की तरफ रवाना कर दिया, उनसे कह दिया कि वह शहर से दो मील बाहर कोठानी के पुल के पास उसका इन्तज़ार करें। दो घोड़े उसने अपने लिए और वसुन्धरा के लिए रख लिए और फिर वसुन्धरा को लेकर उसके मायकेवालों से विदा कराके शहर

से बाहर जाने लगा।

वसुन्धरा और उसका पति दोनों अपने-अपने घोड़ों पर सवार, अपने ख्यालों में गिरफ्तार शहर की सीमा से बाहर निकल गए। डुँगस के चश्मे से आगे जाने वाले रास्ते पर निकल गए। अब शहर की इमारतें खत्म हो चुकी थीं, धान और मक्का के खेत शुरु हो गए थे, लेकिन कहीं-कहीं इक्का-दुक्का रास्ते में कच्चे मकान दिखाई देते और सफ़री चायख़ाने। रास्ते में सन्नाटा था और वसुन्धरा सिर झुकाए घोड़े की बाग ढीली रखे कुछ सोचती चली जा रही थी। उसे आज अपना शहर छोड़ते हुए कितना अजब मालूम हो रहा था। वह क्या कर सकती है, जाना तो होगा उसे। एक तरह से ठीक भी है।

शहर बहुत पीछे रह गया; खेत, दुकान, कच्चे मकान भी पीछे रह गए, अब पहाड़ी रास्ता था, एक कच्ची पगडँडी-सी पहाड़ के सीने पर रेंगती हुई ऊपर जा रही थी। इस पहाड़ के दूसरी तरफ कोठानी का खतरनाक नाला था, जिसे पार करके वे निगाली साहब की तरफ बढ़ जाएँगे और फिर निगाली साहब में सीस नवाके वे नई ज़िन्दगी की तरफ राजौरी की जानिब बढ़ जाएँगे। अब दूर-दूर तक कोई आबादी नहीं है, सुनसान रास्ते, वीरान जंगल, कहीं-कहीं पेड़ों के नीचे पहाड़ी गड़रियों के खामोश गल्ले ढलवानों पर चरते हुए।

वसुन्धरा के दिल से एक आह निकली और वे दोनों पहाड़ी ऊँचाई का मोड़ काट के पहाड़ के दूसरी तरफ चले गए जहाँ कोठानी नाले पर लकड़ी का पुल था।

पहाड़ के दूसरी तरफ जाकर एकाएक उन्हें लोगों की एक भीड़ दिखाई दी। बहुत लोग थे, पाँच सौ के करीब होंगे, नहीं हज़ार से ऊपर होंगे, नहीं दो हज़ार के क़रीब होंगे, नहीं तीन हज़ार से भी ऊपर होंगे। यह उसके अपने शहर के लोग थे और इतनी बड़ी तादाद में रास्ते में खड़े थे कि उनकी ओट में लकड़ी का पुल छिप गया था।

वे दोनों जब उन लोगों के क़रीब पहुँचे तो किसी ने उनसे कुछ नहीं कहा, भीड़ ने छटकर उन्हें रास्ता दे दिया। एक ने वसुन्धरा के घोड़े की बाग थाम ली, किसी दूसरे ने दूसरे घोड़े की बाग अपने हाथ में ले ली और आहिस्ता-आहिस्ता कुछ कहे बग़ैर वे लोग उनके साथ-साथ चलने लगे।

वसुन्धरा के पति ने आश्चर्य से पूछा:

"आप लोग कहाँ जा रहे हैं?"

"निगाली साहब!" एक शहरी ने जवाब दिया और गोपाल के साथ-साथ चलने लगा।

वसुन्धरा का पति हैरत में था, यह क्या माजरा है, मगर कोई उससे पूछताछ न करता था, न कोई वसुन्धरा से बात करता था, वे सब लोग एक काफिले की सूरत में खामोशी से उनके साथ चल रहे थे।

बहुत जल्द वे लोग कोठानी के लकड़ी के पुल के करीब पहुँच गए, जो एक भयानक गहरे नाले की खड्ड के ऊपर स्थित था।

मगर यह देखकर वसुन्धरा के पति के मुँह से आश्चर्य की ऐसी चीख निकल गई कि नाले का पुल खड्ड के अन्दर गिरा हुआ था और पानी उसके ऊपर बह रहा था।

''पुल टूट गया।'' एक साहब बड़ी गम्भीरता से बोले। ''सचमुच!'' दूसरे साहब ने गोपाल को बताया, ''देखिए, पुल टूट गया है।''

तीसरे साहब, जो वसुन्धरा के घोड़े की बाग थामे थे, अफसोस से सिर हिला के बोले, ''अब हम लोग निगाली साहब कैसे जाएँगे? पुल तो टूट गया है।''

वसुन्धरा का पति दिल ही दिल में गुस्से से पेच व ताव खा रहा था, इन कम्बख्तों ने खुद ही पुल तोड़ डाला है, और मुझे किस भोलेपन से बता रहे हैं कि पुल टूट गया है, ये खुद हमारा रास्ता रोक रहे हैं और अपनी बुद्धि से मुझे बता रहे हैं कि वह तो किसी तरह की दिलचस्पी हमारे जाने, न जाने से नहीं रखते।

मगर ये सब लोग यहाँ आ कैसे गए? वह हैरान था। इन लोगों में सिर्फ नौजवान ही नहीं थे, बुड्ढे और अधेड़ उम्र के लोग भी थे, हिन्दू भी थे और मुसलमान भी, सिख भी और ईसाई भी, डोगरे भी और कश्मीरी पण्डित भी, रंगीन तबीयत भी और उदास तबीयत भी, ऐसे लोग भी जिनके चाल-चलन पर आज तक किसी ने उँगली न रखी थी। उनमें दुकानदार भी थे और छोटे-मोटे हाकिम भी, बागों के माली और गड़रिये भी और वे लोग भी जिनकी सूरत तक से वह परिचित नहीं था। वे सब उसे रोकने के लिए आए थे...उसके दिल में एक अजब जंग-सी होने लगी, इतने लोगों के आने की उसे खुशी भी थी, और गुस्सा भी था, और दोनों भाव एक-दूसरे से गुँथे हुए थे।

''मगर मैं तो जाऊँगा।'' उसने अन्त में दाँत पीसकर कहा।

''मगर जाओगे कैसे? पुल तो है नहीं... और खड्ड गहरी है और उस खड्ड पर पुल बनाने के लिए कम से कम दो माह दरकार होंगे।'' एक ने कहा।

''हाँ, ठीक है, दो माह बाद चले जाना।'' दूसरा बोला।

बुड्ढे क़ासिम जू ने कहा, ''मेरी बेटी की शादी अगले माह में होगी, उसके ज़ेवर कौन तैयार करेगा?''

''और मेरी बहन कहती है, मैं तो गोपाल के हाथ की बनाई हँसली पहनूँगी अपनी शादी में! और तुम चले जा रहे हो।'' चौथा बोला।

''यह सोलह तोले सोना है, मेरी बीवी के लिए दो गोखरु बना दो, जैसे तुमने ठाकुर दयाल सिंह की बच्ची के लिए तैयार किए हैं। बिलकुल उसी डिज़ाइन के बनने चाहिए, गोपाल! तुम हमारे शहर के सबसे अच्छे सुनार हो, यह काम तो तुम्हें अपनी भाभी की खातिर करना ही होगा।'' ठाकुर जगजीत सिंह कपड़े की एक छोटी-सी पोटली में बँधा हुआ सोना उसके हाथों में देने की कोशिश करने लगा। एकाएक उसको चारों तरफ से लोगों ने घेर लिया। कोई सोना लाया था, कोई चाँदी, अमीर और गरीब सब मिलकर उसको काम दे रहे थे; वे उसे जाने से नहीं

रोक रहे थे, वे उसे इतना काम दे रहे थे कि वह अगले मास तो क्या अगले दो साल में भी उस काम को पूरा नहीं कर सकता था।

जो कुछ उन्होंने कहा था, वह इतना ज़रूरी नहीं था, जितना वह ज़रूरी था जो उन्होंने उससे नहीं कहा था, और जो कुछ उन्होंने उससे नहीं कहा था, उसने उसके दिल को पकड़ लिया था। उसे अपना गला बन्द होता मालूम हुआ, उसकी आँखों में आँसू आने लगे, वे उसे सोने-चाँदी की रिश्वत नहीं दे रहे थे, प्यार की रिश्वत दे रहे थे, हम तुम्हें जाने न देंगे, किसी तरह जाने न देंगे।

वसुन्धरा के नेत्रों में जल छलक आया, उसने अपना मुँह दुपट्टे में छिपा लिया।

"अच्छा अब मैं कभी यह शहर छोड़कर न जाऊँगा।'' वसुन्धरा का पति अपने आँसू पोंछते हुए कहने लगा।

एकाएक नौजवान उछलने लगे और ढोल बजाने लगे और सब मिलकर पहाड़ी गीत गाने लगे, घोड़ों की बागें वापस फेर दी गईं और यूँ तो मैंने अपनी ज़िन्दगी में बड़े-बड़े जुलूस और जश्न देखे हैं, मगर मुझे उस चमकीले रोज़ वाला वह छोटा-सा पहाड़ी काफिला कभी नहीं भूलता, जब एक छोटे-से शहर के लोग अपने शहर की खूबसूरती को वापस लेकर आए थे।

महालक्ष्मी का पुल

महालक्ष्मी स्टेशन के इस पार महालक्ष्मीजी का मन्दिर है, उसे लोग 'रेस कोर्स' भी कहते हैं। इस मन्दिर में पूजा करने वाले हारते अधिक हैं, जीतते कम हैं। महालक्ष्मी स्टेशन के इस पार एक बहुत बड़ी गन्दी नाली है, जो मानव शरीरों के मल को ढके हुए पानी में घोलती हुई शहर से बाहर चली जाती है। मन्दिर में मुनष्य के मन का मैल धुलता है और गन्दे नाले में मनुष्य के शरीर का मल, और इन दोनों के बीच में महालक्ष्मी का पुल है। महालक्ष्मी के पुल ऊपर बाईं और लोहे के जंगले पर छः साड़ियाँ फहरा रही हैं। पुल के इस ओर सदा इस स्थान पर कुछेक साड़ियाँ लहराती रहती हैं। ये साड़ियाँ बहुत मूल्यवान नहीं हैं, इनके पहनने वाले भी कोई बहुत अधिक मूल्यवान नहीं होंगे। ये लोग प्रतिदिन इन साड़ियों को धोकर सूखने के लिए डाल देते हैं और रेलवे लाइन के आर-पार जाते हुए लोग, महालक्ष्मी स्टेशन पर गाड़ी की प्रतीक्षा करते हुए लोग, गाड़ी की खिड़की और दरवाज़ों से बाहर देखने वाले लोग प्रायः इन साड़ियों को हवा में झूलता हुआ देखते हैं। वे इनके विभिन्न रंगों को देखते है–भूरा, गहरा भूरा, मटमैला, नीला, किरमज़ी भूरा, गन्दा लाल, किनारा गहरा नीला और लाल। वे लोग प्रायः इन्हीं रंगों को वातावरण में फैले हुए देखते हैं, एक क्षण के लिए। दूसरे क्षण में गाड़ी पुल के नीचे से गुज़र जाती है।

इन साड़ियों के रंग अब आँखों को नहीं भाते। किसी समय में हो सकता है जब यह नई-नई खरीदी गई हों और इनके रंग सुन्दर और चमकते हों, परन्तु अब नहीं। निरन्तर धुलते रहने से इन रंगों की शोभा मर चुकी है। अब ये साड़ियाँ अपने झूठे सिठैए ढंग से बड़ी बेदिली से जंगलों पर पड़ी दिखाई देती हैं। आप दिन में इनको सौ बार देखिए, ये आपको कभी सुन्दर नहीं दिखाई देंगी। न इनका रंग-रूप अच्छा है, न इनका कपड़ा। यह बड़ी घटिया प्रकार की साड़ियाँ हैं। हर रोज़ धुलते रहने से इनका कपड़ा भी तार-तार हो रहा है, और कहीं-कहीं से फट भी गया है। कहीं उधड़े हुए टाँके हैं। कहीं कुरुप धब्बे, जो इतने पक्के हो गए हैं कि धोए जाने पर भी नहीं धुलते बल्कि और गहरे हो जाते हैं। मैं इन साड़ियों के जीवन को जानता हूँ, क्योंकि मैं उन लोगों को जानता हूँ जो इन साड़ियों की पहनते हैं। ये लोग महालक्ष्मी के पुल के पास ही बाईं ओर 8 नम्बर की चाल में रहते हैं। यह चाल मतवाली नहीं है, बड़ी गरीब-सी चाल है। मैं भी तो इस चाल में रहता हूँ। इसलिए आपको इन साड़ियों और इनके पहननेवालों के सम्बन्ध में सब कुछ बता सकता हूँ। अभी प्रधानमंत्री की गाड़ी आने में बहुत देर है। आप प्रतीक्षा करते-करते उकता जाएँगे। इसलिए यदि आप इन छः साड़ियों के जीवन के सम्बन्ध में मुझसे सुन लें तो समय

आसानी से कट जाएगा। इधर जो भूरे रंग की साड़ी लटक रही है, यह शान्ताबाई की साड़ी है। इसके समीप जो साड़ी लटक रही है वह भी आपको भूरे रंग की दिखाई देती होगी, परन्तु वह तो गहरे भूरे रंग की है। आप नहीं, मैं इसका भूरा-भूरा रंग देख सकता हूँ। क्योंकि मैं इसे उस समय से जानता हूँ जब इसका रंग चमकता हुआ गहरा भूरा था। अब उस दूसरी साड़ी का रंग भी वैसा ही भूरा है जैसा शान्ताबाई की साड़ी का। और सम्भवत: आप इन दोनों साड़ियों में बड़ी कठिनता से कोई भेद देख सकते हैं। मैं भी जब इनके पहनने वालों के जीवन को देखता हूँ, तो बहुत कम अन्तर अनुभव करता हूँ। परन्तु यह पहली साड़ी जो भूरे रंग की है वह शान्ताबाई की साड़ी है, और जो दूसरी भूरे रंग की साड़ी है और जिसका गहरा भूरा रंग केवल मेरी आँखें ही देख सकती हैं वह जीवनाबाई की साड़ी है।

शान्ताबाई का जीवन भी उसकी साड़ी के रंग की भाँति ही भूरा है। शान्ताबाई बर्तन माँजने का काम करती है। उसके तीन बच्चे हैं–एक लड़की है, दो छोटे लड़के हैं। बड़ी लड़की की आयु छ:-सात वर्ष की होगी। और सबसे छोटा लड़का दो साल का है। उसका पति सैलून मिल में कपड़े खाते में काम करता है। उसे बहुत सवेरे जाना होता है, इसलिए शान्ताबाई अपने पति के लिए दूसरे दिन का खाना रात को ही पका रखती है। क्योंकि प्रात: उसे स्वयं बर्तन माँजने के लिए और पानी ढोने के लिए दूसरों के घरों में जाना होता है। और अब वह साथ में अपनी छ: वर्ष की बच्ची को भी ले जाती है। और दोपहर के लगभग चाल में वापस आती है। वापस आकर वह नहाती है और अपनी साड़ी धोती है। और सुखाने के लिए पुल के जंगले पर डाल देती है। और फिर एक अत्यन्त मलिन और पुरानी धोती पहनकर खाना पकाने लगती है। शान्ताबाई के घर चूल्हा उस समय सुलग सकता है जब दूसरों के घर चूल्हें ठंडे हो जाएँ। अर्थात् दोपहर के दो बजे और रात के नौ बजे। इन समयों के इधर और उधर उसे दोनों समय घर से बाहर बर्तन माँजने और पानी ढोने का काम होता है। अब तो छोटी लड़की भी उसका हाथ बँटाती है। शान्ताबाई बर्तन साफ करती हे, छोटी लड़की बर्तन धोती जाती है। दो-तीन बार ऐसा भी हुआ कि छोटी लड़की के हाथ से चीनी के बर्तन गिरकर टूट गए। अब मैं जब छोटी लड़की की आँखें सूजी हुई और गाल लाल देखता हूँ, तो समझ जाता हूँ कि किसी बड़े घर में चीनी के बर्तन टूटे हैं। उस दिन शान्ता भी मेरी नमस्ते का उत्तर नहीं देती-जलती भुनती, बड़बड़ाती चूल्हा सुलगाने में लग जाती है, और चूल्हे में आग कम और धुआँ अधिक निकालने में सफल हो जाती है। छोटा लड़का, जो दो साल का है, धुएँ से अपना दम घुटता देखकर चीखता है तो शान्ताबाई उसके चीनी जैसे कोमल गालों पर ज़ोर-ज़ोर से चाँटे लगाने से नहीं झिझकती इससे बच्चा और अधिक चीखता है। यों तो यह दिन-भर रोता है, क्योंकि उसे दूध नहीं मिलता और उसे प्राय: भूख लगी रहती है और दो वर्ष की आयु में ही उसे बाजरे की रोटी खानी पड़ती है। उसे अपनी माँ का दूध अपने दूसरे भाई-बहनों की भाँति केवल पिछले छ:-सात महीने ही मिल सका था, वह भी बड़ी कठिनता से। फिर वह खुश्क बाजरे और ठंडे पानी पर पलने लगा। हमारी चाल के सारे बच्चे इसी भोजन पर पलते हैं। वे दिन-भर नंगे रहते हैं और रात को गुदरी ओढ़कर सो जाते हैं। सोते

में भी वे भूखे रहते हैं और जागते में भी भूखे रहते हैं। और जब शान्ताबाई के पति की भाँति बड़े हो जाते है, तो दिन-भर खुश्क बाजरा और ठंडा पानी पी-पीकर काम करते रहते है, और उनकी भूख बढ़ती जाती है। हर समय मेदे के अन्दर और दिल के अन्दर तथा दिमाग के अन्दर एक बोझिल-सी धमक महसूस करते हैं। ताड़ी पीकर कुछ घंटों के लिए यह धमक समाप्त हो जाती है। परन्तु मनुष्य हमेशा ताड़ी नहीं पी सकता। एक दिन पीएगा, दो दिन पीएगा, तीसरे दिन की ताड़ी के लिए पैसे कहाँ से लाएगा? आखिर खोली का किराया देना है, राशन का खर्चा है, भाजी, तरकारियाँ, तेल और नमक है, बिजली और पानी है–शान्ताबाई की भूरी साड़ी है : वह छठे-सातवें महीने ही तार-तार हो जाती है। कभी सात मास से अधिक नहीं चलती। ये मिलवाले भी पाँच रुपए चार आने में कैसी रद्दी, निकम्मी साड़ी देते हैं, जिसके कपड़े में जान नहीं होती, छठे महीने से जो तार-तार होना आरम्भ होती है, तो सातवें महीने बड़ी कठिनता से सी के, जोड़ के, गाँठ के, टाँके लगाकर काम देती है, और फिर वहीं पाँच रुपए चार आने खर्च करने पड़ते हैं। और वही भूरे रंग की साड़ी आ जाती हैं शान्ता को यह रंग बहुत भाता है। इसलिए कि यह मैला बहुत देर में होता है। उसे घरों में झाड़ू देना होता है, बर्तन साफ करने होते हैं, तीसरी-चौथी मंज़िल तक पानी ढोना होता है। वह भूरा रंग नहीं चाहेगी तो क्या खिलते हुए उज्ज्वल रंग, गुलाबी, बसन्ती पसन्द करेगी? नहीं, वह इतनी मूर्ख नहीं है, वह तीन बच्चों की माँ है। परन्तु कभी इसने यह उज्ज्वल रंग देखे थे, पहने थे... इन्हें अपने धड़कते हुए दिल के साथ प्यार किया था, जब वह धारवाड़ में अपने गाँव में थी, जहाँ उसने बादलों में उज्ज्वल रंगोंवाली चमक को देखा था, जहाँ उसने बादलों में उज्ज्वल रंगोंवाली चमक को देखा था, जहाँ मीलों में उसने उज्ज्वल रंग नाचते हुए देखे थे, जहाँ उसके पिता के धान के खेत थे–ऐसे उज्जवल हरे-हरे रंग के खेत और आँगन में पीरु का पेड़ जिसकी डाल-डाल से वह पीरु तोड़-तोड़कर खाया करती थी। जाने क्यों अब पीरुओं में वह मधुरता और खिलावट नहीं है। वह रंग, वह चमक-दमक कहाँ मर गई? वे सारे रंग क्यों एक बार भूरे हो गए? शान्ताबाई कभी बर्तन माँजते-माँजते, खाना पकाते, अपनी साड़ी धोते, इस पुल के जंगले पर लाकर डालते यह सोचा करती है कि उसकी भूरी साड़ी से पानी के बिन्दु आँसुओं की भाँति रेल की पटरी पर बहते जाते हैं और दूर देखने वाले लोग एक भूरे रंग की कुरुप स्त्री को पुल के ऊपर जंगले पर एक भूरी साड़ी को फैलाते हुए देखते हैं और तब दूसरे क्षण गाड़ी पुल के नीचे से गुज़र जाती है।

जीवनाबाई की साड़ी जो शान्ताबाई की साड़ी के साथ लटक रही है, गहरे भूरे रंग की है। वैसे तो इसका रंग शान्ताबाई की साड़ी से भी फीका दिखाई देगा परन्तु जब आप ध्यान से देखेंगे तो इसके फीकेपन के होते हुए भी यह आपको गहरे भूरे रंग की दिखाई देगी। यह साड़ी भी पाँच रुपए चार आने की है और बड़ी फटी-पुरानी है। यह एक जगह से फट गई थी। लेकिन अब वहाँ पर टाँके लगे हैं, और इतनी दूर से भी दिखाई देते हैं। हाँ, अब वह बड़ा टुकड़ा अवश्य देख सकते हैं, जो गहरे नीले रंग का है, और इस साड़ी के बीच में जहाँ से यह साड़ी बहुत फट चुकी थी, लगाया गया है। यह टुकड़ा जीवनाबाई की उस पहली साड़ी का है, और दूसरी साड़ी को पक्का

बनाने के लिए प्रयोग में लाया गया है। जीवनाबाई विधवा है, इसलिए वह सदा पुरानी वस्तुओं से नई वस्तुओं को दृढ़ बनाने के ढंग से सोचा करती है। पुरानी स्मृतियों से नई स्मृतियों की कटुताओं को भूल जाने का यत्न करती है। जीवनाबाई अपने पति के लिए रोती रहती है कि जिसने एक दिन उसे नशे में मार-मारकर उसकी एक आँख कानी कर दी थी। वह इसलिए नशे में था कि वह उस रोज़ मिल से निकाला गया था। बुड्ढा ढूढू अब मिल में किसी काम का नहीं रहा था। यद्यपि वह बहुत अनुभवी था, परन्तु उसके हाथों में इतनी शक्ति न रही थी कि वह जवान मज़दूरों से मुकाबला कर सकता बल्कि वह अब दिन-रात खाँसी से ग्रस्त रहता। कपास के नन्हे-नन्हे रेशे उसके फेफड़ों में जाकर ऐसे फँस गए थे जैसे चर्ख़ियों और अँटियों में सूत के छोटे-छोटे महीन धागे फँस जाते हैं। जब बरसात आती है तो ये नन्हे-नन्हे रेशे उसे दमे से ग्रस्त कर देते हैं। और जब बरसात न होती तो वह दिन-भर और रात-भर खाँसता। एक खुश्क और निरन्तर खँखार घर में और कारखाने में जहाँ वह काम करता था, सुनाई देती रहती थी। मिल के मालिक ने इस खाँसी की भयसूचक घंटी को सुना और ढूढू को मिल से निकाल दिया। ढूढू इसके छः मास उपरान्त मर गया। जीवनाबाई को इसके मरने का बहुत शोक हुआ। क्या हुआ यदि क्रोध में आकर उसने एक दिन जीवना की आँख निकाल ली। तीस वर्ष के दाम्पत्य जीवन को एक क्षण के क्रोध पर कुर्बान नहीं किया जा सकता। और उसका क्रोध उचित था। यदि मिल का मालिक ढूढू को इस प्रकार किसी दोष के बिना ही नौकरी से अलग नहीं करता तो क्या जीवना की आँख निकल सकती थी। ढूढू ऐसा न था। उसे अपनी बेकारी का क्रोध था। अपनी पैंतीस वर्षीय नौकरी से निकाले जाने का दुःख था, और सबसे बड़ा दुःख इस बात का था कि मिल मालिक ने चलते समय उसे एक धेला भी तो नहीं दिया–पैंतीस वर्ष पहले जैसे वह खाली हाथ नौकरी करने मिल में आया था उसी भाँति खाली हाथ वापस लौटा और फाटक से बाहर निकलने पर और अपना नौकरी कार्ड पीछे छोड़ जाने पर उसे एक धक्का-सा लगा। बाहर आने पर उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे इन पैंतीस वर्षों ने उसका सारा धन, उसका सारा रक्त और उसका सारा रस चूस लिया हो और फिर उसको बेकार समझकर कूड़े के ढेर में फेंक दिया हो। ढूढू बड़े आश्चर्य से उस मिल के फाटक और उस चिमनी को देखने लगा जो उसके सिर पर एक भयानक जीवन की भाँति आकाश से लगी खड़ी थी। ढूढू ने शोक और क्रोध से अपने हाथ मले, भूमि पर ज़ोर से थूका और फिर ताड़ीख़ाने चला गया।

लेकिन जीवना की एक आँख भी न जाती यदि उसके पास इलाज के लिए पैसे होते। वह आँख तो गल-गलकर, सड़-सड़कर, दान से चलने वाले अस्पतालों में डाक्टरों, कम्पाउण्डरों और नर्सों की असावधानी और गालियों और लापरवाहियों का शिकार हो गई। और जब जीवना अच्छी हुई तो ढूढू बीमार पड़ गया और ऐसा बीमार पड़ा कि फिर बिस्तर से न उठ सका। उन दिनों जीवना उसकी देख-भाल करती थी। शान्ताबाई ने सहायता के लिए उसे कुछ घरों में बर्तन माँजने का कार्य दिलवा दिया था। और यद्यपि अब वह वृद्धा थी तथा श्रम और स्वच्छता से बर्तनों को साफ न रख सकती थी, फिर भी वह धीरे-धीरे अपने निर्बल हाथों से झूठे बल के बोदे

सहारे पर जैसे-तैसे काम करती रही। सुन्दर वस्त्र पहनने वाली, सुगन्धित तेल लगाने वाली स्त्रियों की गालियाँ सुनती रही और काम करती रही क्योंकि उसका ढूढू बीमार था और उसे अपने-आपको, अपने पति को जीवित रखना था। परन्तु ढूढू जीवित नहीं रहा और अब जीवनाबाई अकेली थी। अब वह बिल्कुल अकेली थी और अब उसे केवल अपना धन्धा करना था। विवाह के दो वर्ष उपरान्त उसके घर एक लड़की पैदा हुई परन्तु जब वह जवान हुई तो किसी बदमाश के साथ भाग गई और उसका आज तक पता नहीं चला। और फिर बहुत-से लोगों ने बताया कि जीवनाबाई की बेटी फ़ारस रोड पर चमकीले-भड़कीले वस्त्र पहने बैठी है। परन्तु जीवना को विश्वास न आया। उसने अपना सारा जीवन पाँच रुपए चार आने की धोती पहनकर बिता दिया था। उसको विश्वास था कि उसकी लड़की भी ऐसा ही करेगी। वह कभी फ़ारस रोड नहीं गई। इसलिए उसे विश्वास था कि उसकी बेटी वहाँ नहीं जाएगी। भला उसकी बेटी वहाँ क्यों जाने लगी। यहाँ क्या नहीं था। पाँच रुपए चार आने की धोती, बाजरे की रोटी थी, ठंडा पानी था। सूखा मान था और यह सब छोड़कर वह फ़ारस रोड क्यों जाने लगी? उसे तो कोई बदमाश अपने प्रेम का सब्ज़बाग दिखाकर ले गया था। क्योंकि नारी प्रेम के लिए सब कुछ कर लेती है। स्वयं वह तीस साल पहले अपने ढूढू के लिए अपने माँ-बाप का घर छोड़कर यहीं चली आई थी। जिस दिन ढूढू मरा और जब लोग उसकी लाश को जलाने के लिए ले जाने लगे और जीवना ने अपने सिन्दूर की डिबिया अपनी बेटी की अँगिया पर उड़ेल दी, जो उसने बड़ी देर से ढूढू की दृष्टि से छिपाकर रखी थी, ठीक इसी समय बढ़े हुए शरीर की एक स्त्री बड़े चमकीले वस्त्र पहने उससे आकर लिपट गई और फूट-फूटकर रोने लगी और उसे देखकर जीवना को विश्वास आ गया कि जैसे अब सब कुछ मर गया है। उसका पति, उसकी बेटी, उसका मानू। मानो वह जीवन-भर रोटी नहीं, मल खाती रही है। मानो उसके पास कुछ नहीं था। पहले से ही कुछ नहीं था। पैदा होने से पहले ही उसका सब कुछ छीन लिया गया था। उसे निहत्था, नंगा और अपमानित कर दिया गया था। और जीवना को उसी क्षण में अनुभव हुआ कि वह जगह जहाँ उसका पति जीवन-भर काम करता रहा और जहाँ उसकी आँख अन्धी हो गई और वह जगह जहाँ उसकी बेटी अपनी दुकान लगाकर बैठ गई एक बहुत बड़ा अन्धा कारखाना है, जिसमें कोई क्रूर, अत्याचारी हाथ मानव शरीरों के लिए गन्ने का रस निकालने वाली मशीन में ठोंसा जा रहा है और दूसरे हाथ से तोड़-मरोड़कर दूसरी ओर फेंक दिया जाता है। और एकदम जीवना अपनी बेटी को धक्का देकर एक ओर खड़ी हो गई और चीख़ें मार-मारकर रोने लगी।

तीसरी साड़ी का रंग मटमैला नीला है। अर्थात् नीला भी है और मैला भी है और मटियाला भी। कुछ ऐसा विचित्र-सा रंग है जो बार-बार धोने पर भी नहीं निखरता बल्कि और भी मलिन होता जाता है। यह मेरी पत्नी की साड़ी है। मैं फ़ोर्ट में धन्नोबाई की फ़र्म में क्लर्की करता हूँ। मुझे पैंसठ रुपए तनख्वाह मिलती है। सैलून मिल और बक्सरिया मिल के मज़दूरों को भी यही वेतन मिलता है। इसलिए मैं भी उन्हीं के साथ 8 नम्बर की चाल की एक खोली में रहता हूँ। परन्तु मैं मज़दूर नहीं हूँ, क्लर्क हूँ, मैं फ़ोर्ट में नौकर हूँ, मैं दसवीं पास हूँ, मैं टाइप कर सकता हूँ, मैं

अँग्रेज़ी में लिख सकता हूँ, मैं अपने प्रधानमंत्री के भाषण जलसे में सुनकर समझ लेता हूँ, आज थोड़ी देर में उनकी गाड़ी महालक्ष्मी पर आएगी, वह नहीं, वो रेसकोर्स नहीं जाएँगे। वह समुद्र के किनारे एक शानदार भाषण देंगे। इस अवसर पर लाखों लोग इकट्ठे होंगे। इन लाखों में मैं भी एक हूँगा।

मेरी पत्नी को प्रधानमंत्री की बातें सुनने का बहुत चाव है, परन्तु मैं उसे अपने साथ नहीं ले जा सकता। क्योंकि हमारे आठ बच्चे हैं और घर में हर समय अशान्ति-सी रहती है। जब देखो कोई-न-कोई वस्तु कम हो जाती है। राशन तो रोज़ कम पड़ जाता है। अब नल में पानी भी कम आता है, रात को सोने के लिए जगह भी कम पड़ती है, तनख्वाह भी इतनी कम पड़ती है कि महीने में केवल पन्द्रह दिन चलती है, बाकी पन्द्रह दिन सूद और पठान चलाता है और वह भी कैसे गालियाँ बकते-बकते, घिसर-घिसर करते, किसी धीमी गति से चलने वाली मालगाड़ी की भाँति यह जीवन चलता है।

मेरे आठ बच्चे हैं। परन्तु वे स्कूल में नहीं पढ़ सकते। पहले-पहल जब मैंने विवाह किया था और सावित्री को अपने घर इस खोली में लाया था उन दिनों सावित्री भी बड़ी अच्छी-अच्छी बातें सोचा करती थी। गोभी के कोमल हरे-हरे पत्तों की भाँति प्यारी-प्यारी बातें जब वह करती और मुसकराती तो सिनेमा के चित्र की भाँति सुन्दर दिखाई देती। अब वह मुसकान न जाने कहाँ चली गई। उसका स्थान अब एक निरन्तर त्यौरी ने ले लिया है और वह ज़रा-सी बात में बच्चों को अन्धाधुन्ध पीटना शुरु करती है और मैं तो कुछ भी कहूँ, कैसे भी कहूँ कितनी भी नर्मी से कहूँ वह तो मुझे भी बस काट खाने को दौड़ती है। पता नहीं सावित्री को क्या हो गया है। पता नहीं मुझे भी क्या हो गया है। मैं दफ्तर में सेठ की गालियाँ सुनता हूँ, घर पर बीवी की गालियाँ सुनता हूँ, और सदा चुप रहता हूँ। कभी-कभी सोचता हूँ, हो सकता है कि मेरी बीवी को एक नई साड़ी की आवश्यकता हो। हो सकता है उसे सिर्फ एक नई साड़ी की ही नहीं एक नये चेहरे, एक नये घर, एक नये वातावरण, एक नये जीवन की आवश्यकता हो, परन्तु इन बातों को सोचने से क्या होता है। और अब तो आज़ादी आ गई है। और हमारे प्रधानमंत्री ने यह भी कह दिया है कि इस नस्ल को अर्थात् हम लोगों को अपने जीवन में कोई आराम नहीं मिल सकता। मैंने सावित्री को, अपने प्रधानमंत्री का भाषण, जो अखबार में पढ़ा था, सुनाया तो उसे सुनकर आगबबूला हो गई। उसने क्रोध में आकर चूल्हे के समीप पड़ा हुआ चिमटा मेरे सिर पर दे मारा। यह घाव का निशान है, जो आप मेरे माथे पर देख रहे हैं। उसी का निशान है। सावित्री की मटमैली साड़ी पर भी कई ऐसे घावों के चिह्न तो उस मूँगिया रंग की जार्जेट की साड़ी का है जो उसने अपेरा हाउस के समीप भँजीमल भौंदूराम कपड़े बेचने वाले की दुकान पर देखी थी। एक निशान उस खिलौने का है जो पच्चीस रुपये का था और जिसे देखकर मेरा पहला बच्चा खुशी से किलकारियाँ मारने लगा था परन्तु जिसे हम खरीद न सके और जिसे न पाकर मेरा बच्चा दिन-रात रोता रहा। एक निशान उस तार का है जो एक दिन जबलपुर से आया था, सावित्री जबलपुर जाना चाहती थी परन्तु हज़ार यत्न करने के उपरान्त भी मुझे कहीं से रुपये उधार न मिल सके थे, और सावित्री

जबलपुर न जा सकी थी। एक चिह्न... परन्तु मैं किस-किस चिह्न का वर्णन करूँ? चलते-चलते गन्दले-गन्दले मलिन दागों से सावित्री की पाँच रुपये चार आने वाली साड़ी भरी है।

चौथी साड़ी किरमज़ी रंग की है, और किरमज़ी रंग में भूरा रंग भी झलक रहा है। वैसे तो ये सब विभिन्न रंगों की साड़ियाँ हैं, लेकिन भूरा रंग इन सब में झलकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सबका जीवन एक है, जैसे इन सबका मूल्य एक है। जैसे वे सब भूमि से कभी ऊपर नहीं उठेंगी। जैसे उन्होंने कभी ओस में हँसती हुई धुनक, क्षितिज पर चमकती हुई उषा, बादलों में लहराती हुई बिजली नहीं देखी है। जैसा शान्ताबाई का यौवन है। वह जीवना की जरा है। वह सावित्री का अधेड़पन है। जैसे ये सब साड़ियाँ जीवन का एक रंग, एक स्तर, एक क्रम लिए हुए हवा में झूलती रहती हैं। यह किरमजी भूरे रंग की साड़ी झब्बू भैया की स्त्री की है। इस स्त्री से मेरी पत्नी कभी बातचीत नहीं करती, क्योंकि एक तो इसके कोई बच्चा नहीं है, और ऐसी स्त्री जिसका कोई बच्चा नहीं हो बड़ी कुलक्षणा समझी जाती है। दूसरे, जादू-टोने करके दूसरों के बच्चों को मार देती है और दुष्टात्मा को बुलाकर अपने घरों में बसा लेती है। मेरी पत्नी उसे कभी मुँह नहीं लगाती। यह स्त्री झब्बू भैया ने मूल्य देकर प्राप्त की थी। झब्बू भैया मालाबार का रहने वाला है परन्तु बचपन ही से अपना देश छोड़कर इधर चला आया। वह मराठी और गुजराती जानता है। बड़ी सुगमता से बातचीत कर सकता है। इसी कारण उसे बहुत जल्द पोद्दार मिल के धुन्नी खाते में जगह मिल गई। झब्बू भैया को पहले से ही विवाह का बहुत चाव था। उसे बीड़ी का, ताड़ी का, किसी वस्तु का व्यसन नहीं था। चाव था तो केवल इस बात का कि उसकी शादी शीघ्रातिशीघ्र हो जाए। जब उसके पास सत्तर-अस्सी रुपये इकट्ठे हो गए तो उसने अपने देश जाने की ठानी जिससे वहाँ अपनी बिरादरी में से किसी को ब्याह लाए। परन्तु फिर उसने सोचा, इन सत्तर-अस्सी रुपयों में क्या होगा। आने-जाने का किराया भी बड़ी कठिनता से पूरा होगा। चार वर्ष के परिश्रम के उपरान्त उसने यह धन जोड़ा था, परन्तु इससे वह मुरादाबाद जा सकता था लेकिन जाकर शादी नहीं कर सकता था। इसलिए झब्बू भैया ने यहीं एक बदमाश से बातचीत करके उस स्त्री को सौ रुपए में मोल ले लिया। अस्सी रुपये उसे नकद दिए, बीस रुपए उधार में रहे, जो उसने एक वर्ष के समय में दे दिए। इसके बाद में झब्बू को ज्ञात हुआ कि यह स्त्री भी मुरादाबाद की रहने वाली थी–धीरज गाँव की, और उसकी बिरादरी की ही थी। झब्बू बड़ा प्रसन्न हुआ। चलो, यहाँ बैठे-बैठे सब काम हो गया। अपनी बिरादरी की, अपने ज़िले की, अपने धर्म की स्त्री यहाँ बैठे-बिठाए सौ रुपए में मिल गई। उसने बड़े समारोह से अपना विवाह रचाया और फिर उसे ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी लढ़िया बहुत अच्छा गाती है। वह स्वयं भी अपनी कर्कश आवाज़ में ज़ोर से गाने, बल्कि गाने से ज़्यादा चिल्लाने का शौकीन था। अब तो खोली में लढ़िया काम करते हुए गाती थी। रात को झब्बू और लढ़िया दोनों गाते थे। उनके घर में कोई बच्चा नहीं था, इसलिए उन्होंने एक तोता पाल रखा था। मियाँ मिट्ठू पति-पत्नी को गाते देखकर खुद भी लहक-लहकक्कर गाने लगे। लढ़िया में एक और बात भी थी। झब्बू न बीड़ी पीता, न सिगरेट और न ताड़ी। लढ़िया बीड़ी, सिगरेट, ताड़ी सब कुछ पीती थी। कहती थी,

पहले यह सब कुछ नहीं जानती थी परन्तु जब से बदमाशों के पल्ले पड़ी, उसे ये सब बुरी बातें सीखनी पड़ीं। और अब वह और सब बातें छोड़ सकती है, परन्तु बीड़ी और ताड़ी नहीं छोड़ सकती। कई बार ताड़ी पीकर लढ़िया ने झब्बू पर हमला किया और झब्बू ने उसे रुई की तरह धुनकर रख दिया। इस अवसर पर तोता बहुत शोर मचाता था और रात को दोनों को गालियाँ बकते देखकर स्वयं भी पिंजरे में बन्द वही गालियाँ बकता जो वे दोनों बकते थे। एक बार तो गाली सुनकर झब्बू क्रोध में आकर तोते को पिंजरे समेत गन्दे नाले में फेंकने लगा था परन्तु जीवना ने बीच में पड़कर तोते को बचा लिया। ''तोते को मारना बड़ा पाप है।'' जीवना ने कहा, ''तुम्हें ब्राह्मणों को बुलाकर प्रायश्चित करना पड़ेगा और तुम्हारे पन्द्रह-बीस रुपए ठुक जाएँगे।'' यह सुनकर झब्बू ने तोते को गन्दे नाले में डुबोने का विचार छोड़ दियाथा।

आरम्भ में तो झब्बू को ऐसे विवाह पर चारों तरफ से गालियाँ पड़ीं। वह स्वयं भी लढ़िया को बड़ी सन्देह की दृष्टि से देखता। कई बार उसे बिना किसी कारण के पीटता और स्वयं भी मिल से अनुपस्थित रहकर उसकी देखभाल करता रहा। परन्तु धीरे-धीरे लढ़िया ने अपना विश्वास सारी चाल में बना लिया। लढ़िया कहती थी, ''कोई स्त्री सच्चे मन से व्यभिचारियों के पल्ले पड़ना पसन्द नहीं करती। वह तो एक घर चाहती है, चाहे वह छोटा-सा ही घर हो। वह एक पति चाहती है जो उसका अपना हो, चाहे वह झब्बू भैया की भाँति हर समय शोर मचाने वाला, खुली हुई ज़ुबान वाला और अपनी डींगें मारने वाला ही क्यों न हो। वह एक छोटा बच्चा चाहती है, चाहे वह कितना ही कुरुप क्यों न हो?'' और अब लढ़िया के पास घर भी था और झब्बू भी था और यदि नहीं था तो एक बच्चा। तो क्या, हो जाएगा; और यदि नहीं होता तो भगवान की इच्छा, यह मियाँ मिट्ठू ही इसका बेटा बनेगा।

एक दिन लढ़िया अपने मियाँ मिट्ठू का पिंजरा झुला रही थी और उसे चूरी खिला रही थी और अपने स्वप्नों में उस नन्हे-से बालक को लेकर डूबी थी, जो वातावरण में बढ़ता-बढ़ता उसकी गोद की ओर आ रहा था, कि चाल में शोर-सा बढ़ने लगा। उसने द्वार से झाँककर देखा, कुछ मज़दूर झब्बू को उठाए हुए चले आ रहे है, और उनके कपड़े खून से रंगे हुए हैं। लढ़िया का दिल धक-से रह गया। वह भागती-भागती नीचे गई और उसने बड़ी शीघ्रता से अपने पति को मज़दूरों से छीनकर अपने कन्धे पर बिठा लिया और अपनी खोली में ले आई। पूछने पर पता चला कि झब्बू ने गिन्नी खाते के मैनेजर से कुछ डाँट-डपट की। उसपर झब्बू ने उसके दो हाथ जड़ दिए। इससे बहुत कोलाहल हुआ और मैनेजर ने अपने बदमाशों को बुलाकर झब्बू की खूब ठुकाई की और उसे मिल से बाहर निकाल दिया। परन्तु अच्छा यह हुआ कि झब्बू बच गया, नहीं तो उसके मरने में कोई कमी नहीं थी। लढ़िया ने बड़े उत्साह से काम लिया। उसने उसी समय अपने सिर पर टोकरी उठा ली और गली-गली तरकारी-भाजी बेचने लगी। जैसे वह जीवन में यह धन्धा करती आई थी। इस प्रकार मेहनत-मज़दूरी करके उसने झब्बू को अच्छा कर लिया। झब्बू अब बड़ा चँगा है, परन्तु अब उसे किसी मिल में काम नहीं मिलता। वह दिन-

भर अपनी खोली में खड़ा महालक्ष्मी स्टेशन के चारों ओर ऊँचे-ऊँचे कारखानों की चिमनियों को तकता रहता है। सैलून मिल, ओल्ड मिल, धनराज मिल, परन्तु उसके लिए किसी मिल में स्थान नहीं है। आज लढ़िया बाज़ारों और गलियों में आवाज़ें देकर भाजी-तरकारी बेचती है और घर का सारा काम-काज करती है। उसने बीड़ी, ताड़ी छोड़ दी है। हाँ, उसकी किरमिज़ी भूरे रंग की साड़ी जगह-जगह से फटती जा रही है। थोड़े दिनों तक और यदि झब्बू को काम न मिला तो लढ़िया को अपनी पुरानी साड़ी के टुकड़े जोड़ने पड़ेंगे और अपने मियाँ मिट्ठू को चूरी खिलाना बन्द करना पड़ेगा।

पाँचवीं साड़ी का किनारा गहरा नीला है। साड़ी का रंग गन्दला लाल है। परन्तु किनारा गहरा नीला है और इस नीले में अब भी कहीं-कहीं चमक बाकी है। यह साड़ी दूसरी साड़ियों से बढ़िया है, क्योंकि यह साड़ी पाँच रुपए चार आने की नहीं है। इसका कपड़ा, इसकी चमक-दमक कह देती है कि यह उनसे ज़रा भिन्न है। आपको दूर से यह अन्तर दिखाई नहीं देता, परन्तु मैं जानता हूँ कि यह उनसे ज़रा भिन्न है। इसका कपड़ा अच्छा है, किनारा चमकदार है। इसका मूल्य पौने नौ रुपए है। यह साड़ी मँजुला की है, यह साड़ी मँजुला के ब्याह की है। मँजुला के ब्याह को अभी छ: मास भी नहीं हुए थे। उसका पति गत मास चरखी के घूमते हुए तख्ते की लपेट में आकर मारा गया था। और अब सोलह वर्ष की मँजुला विधवा है। उसका दिल जवान है, उसका शरीर जवान है, उसकी उमँगे जवान हैं परन्तु वह अब कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि उसका पति मिल की एक दुर्घटना में मर गया है। वह पटटा बड़ा ढीला था और घूमते हुए बार-बार फटफटाता था और काम करने वालों के विरोध के होते हुए भी उसे मिल-मालिकों ने नहीं बदला था, क्योंकि यह काम चला रहा था। और दूसरी दशा में थोड़ी देर के लिए काम बन्द करना पड़ता। पटटा बदलने के लिए रुपया भी खर्च होता था। मज़दूर तो किसी समय भी बदला जा सकता है, उसके लिए रुपया थोड़ा खर्च होता है। परन्तु पट्टा तो बड़ी मूल्यवान वस्तु है।

जब मँजुला का पति मारा गया तो मँजुला ने हर्जाने की दरख्वास्त दी जो स्वीकार न हुई। क्योंकि मँजुला का पति अपनी लापरवाही से मरा था। इसलिए मँजुला को कोई हर्जाना नहीं मिला और वह अपनी वही भूरे रंग की साड़ी पहने रही जो उसके पति ने पौने नौ रुपए में उसके लिए मोल ली थी। साड़ी , जिसका रंग गहरा नीला है।

शायद अब मँजुला भी 5 रुपए 4 आने की साड़ी खरीदेगी। उसका पति ज़िन्दा रहता तब भी वह दूसरी साड़ी 5 रुपए 4 आने की ही लाती इस विचार से उसकी ज़िन्दगी में कोई खास भेद नहीं आया। मगर भेद इतना ज़रूर हुआ है कि वह यह साड़ी आज पहनना चाहती है। एक सफेद साड़ी 5 रुपए 4 आने वाली जिसे पहनकर वह दुलहन नहीं बेवा मालूम हो सके। यह साड़ी उसे दिन-रात काट खाने को दौड़ती है। इस साड़ी से जैसे उसके स्वर्गीय पति की मज़बूत भुजाएँ लिपटी हैं, जैसे इसके हर तार पर उसके उज्ज्वल चुम्बन अंकित हैं। जैसे इसके ताने-बाने में उसके पति की गरम-गरम साँसों की आर्द्रता है। उसके काले बालों वाली छाती का सारा प्यार

दबा हुआ है। जैसे अब यह साड़ी नहीं है, उसकी गहरी कब्र है, जिसकी भयानक स्मृतियों को वह हर समय अपने शरीर में लपेट लेने के लिए विवश है। मँजुला को जीवित ही कब्र में गाड़ा जा रहा है।

छठी साड़ी का रंग लाल है। लेकिन इसे यहाँ नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसे पहनने वाली मर चुकी है, फिर भी यह साड़ी यहाँ जंगले पर पहले की भाँति पड़ी है। प्रतिदिन इस तरह धुली-धुलाई हवा में झूलती है। यह माई की साड़ी है, जो हमारी चाल के द्वार के समीप अन्दर खुले आँगन में रहा करती थी। माई का एक बेटा था, सीतो। वह अब जेल में है। हाँ, सीतो की पत्नी और उसका लड़का यहीं नीचे आँगन में द्वार के समीप दीवार के नीचे पड़े रहते हैं। सीतो, सीतो की बीवी और उसकी बुढ़िया माई ये सब लोग हमारी चाल के भँगी है। इनके लिए खोली भी नहीं है। और इनके लिए इतना खाना और कपड़ा भी नहीं मिलता जितना हम लोगो को मिलता है। इसलिए ये लोग आँगन में रहते हैं। वहीं खाना पकाते हैं, वहीं पड़कर सो रहते हैं, यहीं वह बुढ़िया माई मारी गई थी। वह बड़ा छेद जो आप इस साड़ी में देख रहे हैं, पल्लों के समीप, यह गोली का छेद है। यह कारतूस की गोली माई को भँगियों की हड़ताल के दिनों में लगी थी। नहीं, वह इस हड़ताल में भाग नहीं ले रही थी। वह बेचारी तो बहुत बूढ़ी थी, चल-फिर भी नहीं सकती थी। इस हड़ताल में तो उसका बेटा सीतो और दूसरे भँगी शामिल थे। ये लोग महँगाई भत्ता माँगते थे और खोली का किराया माँगते थे। अपने जीवन के लिए दो वक्त का रोटी-कपड़ा और सिर पर एक छत चाहते थे। इसलिए उन लोगों ने हड़ताल की थी और जब हड़ताल कानून विरुद्ध घोषित कर दी गई तो इन लोगों ने जुलूस निकाला और इस जुलूस में माई का बेटा ही तो आगे-आगे था और बड़े ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाता था और फिर जब जुलूस कानून-विरुद्ध घोषित कर दिया गया तो गोली चली और हमारी चाल के सामने चली। हम लोगों ने तो अपने द्वार बन्द कर लिए, परन्तु घबराहट में चाल का द्वार बन्द करना किसी को याद न रहा। और फिर हमें अपने बन्द कमरों में ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो गोली इधर से, उधर से, चारों ओर से चल रही है। थोड़ी देर के उपरान्त बिलकुल सन्नाटा हो गया और जब हम लोगों ने डरते-डरते द्वार खोला और बाहर झाँककर देखा तो जुलूस तितर-बतिर हो चुका था और हमारी चाल के द्वार पर ही वृद्धा मरी पड़ी थी। यह उसी वृद्धा की लाल साड़ी है जिसका बेटा सीतो अब जेल में है। इस लाल साड़ी को अब वृद्धा की बहू पहनती है। इस साड़ी को बुढ़िया के साथ जला देना चाहिए था। परन्तु क्या किया जए : स्थान ढकना अधिक आवश्यक है। मृत्यु के मान-सम्मान से कहीं अधिक आवश्यक है, कि जीवितों का तन ढका जाए। यह साड़ी जलाने के लिए नहीं है, तन ढकने के लिए है। हाँ, कभी-कभी सीतो की पत्नी इसके पल्ले से अपने आँसू पोंछ लेती है, क्योंकि इसमें अस्सी वर्ष के सारे आँसू और सारी उमँगें और सारी विजय और पराजय छिपी हुई है। आँसू पोंछकर सीतो की पत्नी फिर उसी उत्साह से काम करने लगती है कि कुछ हुआ ही नहीं, कहीं गोली ही नहीं चली, कोई जेल नहीं गया। भँगिन का झाड़ू उसी प्रकार चल रही है। यह लो बातों-बातों में प्रधानमंत्री की गाड़ी निकल गई, वो यहाँ नहीं ठहरी। मैं समझ रहा था

कि वो यहाँ जरूर ठहरेगी। प्रधानमंत्री दर्शन देने के लिए गाड़ी से निकलकर थोड़ी देर के लिए प्लेटफार्म पर टहलेंगे और शायद हवा में झूलती हुई छः साड़ियों को भी देख लेंगे।

ये छः साड़ियाँ जो बहुत ही साधारण स्त्रियों की हैं, ऐसी साधारण स्त्रियाँ, जिनसे हमारे देश के छोटे-छोटे घर बनते है, उधर ताक़चे में शीशा है, कंघी है, सिन्दूर की डिबिया है, खाट पर नन्हा बच्चा सो रहा है, अलगनी पर कपड़े सूख रहे हैं।

ये उन छोटे-छोटे लाखों-करोड़ों घरों को बनाने वाली स्त्रियों की साड़ियाँ हैं, जिन्हें हम हिन्दुस्तानी कहते हैं। ये स्त्रियाँ जो हमारे प्यारे-प्यारे बच्चों की माँ हैं, हमारे भोले भाइयों की प्यारी बहनें हैं, हमारे शुद्ध प्रेम का गीत हैं, हमारी पाँच हज़ार वर्ष प्राचीन सभ्यता का सबसे ऊँचा चिह्न हैं। प्रधानमंत्री जी, ये हवा में झूलती हुई साड़ियाँ तुमसे कुछ कहना चाहती हैं, तुमसे कुछ माँगती हैं, ये कोई बड़ा देश, कोई बड़ी मोटरकार, कोई बड़ा परमिट, ठेका या कोई सम्पत्ति आदि कोई ऐसी चीज़ की तुमसे प्रार्थी नहीं है। ये तो जीवन की बहुत ही छोटी-छोटी चीज़ें माँगती हैं। देखिए, यह शान्ताबाई की साड़ी है जो अपने बचपन की खोई हुई धनक तुमसे माँगती है। यह जीवनाबाई की साड़ी है, जो अपनी आँख का प्रकाश और अपनी बेटी की इज़्ज़त माँगती है। यह सावित्री की साड़ी है जिसके गीत मर चुके हैं और जिसके पास अपने बच्चों के लिए स्कूल की फीस नहीं है। यह लढ़िया की साड़ी है, जिसका पति बेकार है और जिसके कमरे में एक तोता है जो दो दिन से भूखा है। यह नववधू की साड़ी है, जिसके पति का जीवन चमड़े के पट्टे से भी कम मूल्य का है। यह बड़ी भँगिन की लाल साड़ी है। जो बन्दूक की गोली को हल की फाल में बदलना चाहती थी, जिससे धरती में मानवता का लहू फूल बनकर खिल उठे और गेहूँ की सुनहरी बालियाँ हँसकर लहराने लगें...

परन्तु प्रधानमंत्री की गाड़ी नहीं रुकी। वे इन छः साड़ियों को नहीं देख सके और भाषण करने को चौपाटी चले गए। इसलिए अब मैं आपसे कहता हूँ कि यदि आप कभी गाड़ी में उधर से गुज़रें तो आप इन छः साड़ियों को ज़रूर देखिए जो महालक्ष्मी पुल के बाईं और लटक रही है। और फिर इन रंग-बिरंगी रेशमी साड़ियों को भी देखिए जिन्हें धोबियों ने इसी पुल के दाईं और सूखने के लिए लटका रखा है और जो उन घरों से आई हैं जहाँ ऊँची-ऊँची चिमनियों वाले कारखानों के मालिक या बड़े-बड़े वेतन पाने वाले रहते हैं। आप उस पुल के दायें-बायें दोनों ओर अवश्य देखिए और फिर अपने-आपसे पूछिए कि आप किस ओर जाना चाहते है। देखिए मैं आपसे समाजवादी बनने के लिए नहीं कह रहा हूँ। मैं आपको वर्ग-संघर्ष की प्रेरणा नहीं दे रहा हूँ। मैं तो केवल यह जानना चाहता हूँ, कि आप महालक्ष्मी पुल की दाई और हैं या बाईं ओर।

पाँच रुपए की आज़ादी

कुल पाँच रुपए, आधे जिसके ढाई रुपए होते हैं, मेरी जेब में थे, जब मैं घर से बाहर निकला। घर से निकलते ही मैंने सोच लिया था कि आज इन पाँच रुपयों में से एक कौड़ी भी बाकी नहीं रखूँगा। मुद्दत के बाद आज इतना माल हाथ आया है, इसीलिए जी खोलकर इसे खर्च करुँगा। दिन-भर बम्बई की सैर करुँगा, गोल्ड फ्लेक के सिगरेट पीऊँगा, पानी-पूड़ी खाऊँगा, रात को कोई सिनेमा-तमाशा देखूँगा, और बारह बजे के बाद घर लौटूँगा। यह सोचकर बरसाती मैंने कन्धे पर रखी और एक अठन्नी को हवा में उछाला और उसे फिर हाथों में दबोच लिया और चिल्लाकर कहा, 'ऊ हू दम चिखा डिक डिक!' जिसका मतलब यह था कि आज बहुत खुश हूँ। खैर...

घर से निकलकर मैं चारबंगले की सड़क पर हो लिया, जो कोई दो सौ गज़ के बाद अन्धेरी जाने वाली पक्की सड़क से जा मिलती है। 'चारबंगले' की सड़क की हालत आजकल हिन्दुस्तान जैसी हो रही है, जो कामन वेल्थ के अन्दर भी है, बाहर भी। यह सड़क आधी अन्धेरी म्युनिसिपैलिटी के पास है, और आधी वरसोवा एरिया कमेटी के पास। इसलिए इसकी कभी मरम्मत नहीं होती। अगर कभी होती है तो बिलकुल इस तरह जिस तरह आजकल हिन्दुस्तान की मरम्मत हो रही है।

इस सड़क के दोनों तरफ नीची ज़मीन है जिसके कीचड़ में झाड़ियाँ उगी हैं और छोटे-छोटे जोहड़ बन गए है, जिनमें समुद्र का पानी भरा रहता है। जब समुद्र में पानी चढ़ता है तो किनारों पर फैलकर इस नीची जमीन में भर जाता है और झाड़ियाँ पानी में डूब जाती हैं। लेकिन इस समय जब मैं घर से निकला समुद्र का पानी नीचे उतर गया था और तराई की रेत में बेहिसाब छोटे-बड़े सूराख़ नज़र आते थे, जिनमें छोटे-छोटे कीड़े, घोंघे, केकड़े और दूसरे समुद्री जानवर रेंगते, बाहर निकलते, चलते-फिरते और घिसटते नज़र आ रहे थे। एक लड़का कीचड़ में खड़ा केकड़े पकड़ रहा था, मैंने सीटी बजाकर उससे कहा...

''कहो हरिदास, बम्बई चलते हो सैर करने?''

उसने कहा–मेरा नाम हरिदास नहीं है, भाउकर है, और मैं केंकड़े पकड़ रहा हूँ। देखते नहीं? मैं सैर करने कैसे जा सकता हूँ? मैं दिन-भर यहाँ पानी में खड़े होकर केंकड़े पकड़ूँगा, और शाम को बाज़ार में जाकर बेचूँगा। घर के लिए आटा-दाल लाऊँगा और फिर खाना खाकर सो जाऊँगा। या अपने टूटे हुए 'गारे' को ठीक करुँगा, आँकी को मज़बूत बनाऊँगा। मेरे लिए सैर कहाँ। बस केकड़े हैं।

मैंने कहा–''हरिदास, ओह! हरिदास नहीं, भाउकर, तुम दिन में कितने केकड़े पकड़ लेते हो?''

''छ: या सात, बहुत हुआ तो दस-बारह।'' भाउकर ने कहा। उसने छोटे घेरेदार जाल की खपच्चियों में 'बाम' मछलियों के छोटे-छोटे टुकड़े मजबूती से बाँध दिए और जाल घुमाकर बड़ी फुरती से झाड़ियों के ऊपर पानी के एक जोहड़ में फेंक दिया। जाल पानी में डूब गया, लेकिन 'तुरवट' पानी के ऊपर तैरते रहे। इन 'तुरवटों' की तरफ इशारा करते हुए मैंने पूछा–''इतने बड़े कार्क के टुकड़े तुम कहाँ से लाते हो?''

वह हँसकर बोला–''ये कार्क के टुकड़े नहीं है। कार्क तो बहुत महँगा होता है। इसको हम 'सँडाल' लकड़ी से बनाते है। यह लकड़ी बिलकुल कार्क की तरह होती है, बल्कि उससे अच्छी होती है।'' यह कहकर उसने आहिस्ता-से जाल को अपनी तरफ खींचकर फिर एकदम झटके से ऊपर निकाला। लेकिन केंकड़ा भी बड़ा होशियार था, फौरन कूद गया और पानी में जा गिरा। 'साला निकल गया!' भाउकर ने खिसियानी हँसी हँसकर कहा।

मैंने भी हँसकर कहा–''हाँ, देखो तो सही, किस क़दर यानी कितना शैतान है। कैसे जाल से उछलकर भागा है।''

भाउकर ने कहा–''अरे। बड़ा बदमाश होता है यह, आठ हाथ-पाँव होते हैं इसके।''

''आठ होते हैं?'' मैंने हैरान होकर पूछा।

''तुमने कभी केंकड़ा नहीं देखा?'' भाउकर ने मुझ पर तरस खाते हुए पूछा।

जब मैंने इन्कार से सिर हिलाया, तो भाउकर ने अपना जाल ज़मीन पर रख दिया, और काँडी को ज़मीन में गाड़ दिया और आँकी खोलकर उसे उलटकर उसमें से एक केंकड़ा निकाला, और मुसकराकर कहने लगा–''यह देखो, यह केकड़ा है। इसके आठ हाथ-पाँव है, लेकिन ये जो मुँह के पास दो डंक है–ये सबसे खतरनाक हैं। इन्हीं से केंकड़ा शिकार करता है।

भाउकर ने चाकू से डंक पर चोट की। केंकड़े के डंक फैल गए, बन्द हो गए, फैल गए। लेकिन अब वे बिलकुल बेकार थे क्योंकि जड़ के पास वे एक मज़बूत धागे से बाँधे हुए थे।

मैंने कहा–''यह केंकड़ा कितने में जाएगा?''

''चार आने में।''

''आज कितने केंकड़े है?''

''अभी तो यही एक है।–और मिलेंगे?''

मैंने उसे एक दुअन्नी दी। वह बोला–''मेरा केंकड़ा चार आने का है।''

मैंने कहा–''मैं केंकड़ा नहीं ले रहा हूँ। तुम्हारे चाय-पानी के लिए। तुमने मुझे आज बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें बताई हैं। बस एक बात और बता दो।''

भाउकर ने जाल उठाकर पानी में फेंक दिया और कहने लगा, ''पूछो।'' उसकी पीठ मेरी

तरफ थी।

मैंने पूछा–''अगर तुम्हारे पास एकदम बहुत-सा रुपया आ जाए तो तुम क्या करोगे?''

भाउकर घूमकर मेरे सामने आ गया, और एक पल के बाद बोला, ''गन्दे कीचड़ में काम करने से मेरे पाँवों पर जो घाव हो गए हैं, पहले उनका इलाज कराऊँगा। और...''

''और...,''

''और फिर शादी करूँगा।'' उसने जाल पानी से निकाला। अब उसमें कोई केंकड़ा नहीं था, बल्कि एक छोटी-सी चाँदी-सी चमकती मछली थी। भाउकर ने उसे अपने हाथ में ले लिया। वह तड़प रही थी और हाँफ रही थी। वह दो-चार पल मछली को ध्यान से देखता रहा। फिर उसने उसे पानी में छोड़ दिया। फिर वह देर तक उसे पानी में तैरते हुए देखता रहा। वह छोटी-सी चाँदी की मछली, जो उसकी ज़िन्दगी का सुनहरा सपना थी, पानी में तैरती हुई कहीं गुम हो गई। भाउकर ने सिर उठाकर और आसमान में दौड़ते हुए बादलों को देखकर और एक ठंडी साँस भरकर कहा–''लेकिन मेरी शादी नहीं होगी।''

मैंने कहा–''क्यों नहीं होगी? अब तो आज़ादी आ गई है।''

वह बोला–''यह आज़ादी तो आकाश में उड़ते हुए बादलों की तरह है। मैं तो ऐसी आज़ादी चाहता हूँ जो मेरी मुट्ठी में आ जाए, इस केकड़े की तरह।''

उसी समय मेरा जी चाहा कि मैं कावसजी जहाँगीर हाल में भाउकर का एक लेक्चर रक्खूँ और हिन्दुस्तान के सारे बड़े-बड़े नेताओं को बुलाऊँ और उनसे पूछूँ कि बताओ, जनता इस आज़ादी की यथार्थता को जानती हैं या नहीं?

मैं चार बँगले और अन्धेरी-वरसोवा रोड के नुक्कड़ पर बड़ी देर तक खड़ा रहा। लेकिन वरसोवा से बसें बिलकुल इस तरह भरकर आती थीं, जिस तरह बन्द डिब्बे में मछलियाँ भरी हुई हों। मैंने सोचा, चलो चार-बँगले से पहले वरसोवा चलेंगे। फिर वहाँ से अन्धेरी आएँगे। और कोई सूरत तो जाने की दिखाई नहीं देती। सो मैंने वरसोवा जाने वाली बस पकड़ी। दो आने का टिकट लिया। वरसोवा पहुँचकर अड्डे पर एक पान खाया। फिर वापस आकर बस में बैठ गया। इतने में बस चल पड़ी। साढ़े तीन आने टिकट के दिए। कन्डक्टर मेरी तरफ देखकर मुसकराया। मैं भी उसकी तरफ़ देखकर मुसकराया। वह फिर मेरी तरफ देखकर मुसकराया। उसके जवाब में मैं फिर मुसकराने वाला था, कि उसने चुपके-से साढ़े तीन आने के बदले एक आने का टिकट दिया। मैंने ज़रा अचम्भे से टिकट की तरफ घूरकर देखा। वह जवाब में फिर मुसकराया। लेकिन, अब के उसकी मुसकराहट में बेहद परेशानी और झेंप-सी थी। जैसे वह मुसकराहट कह रही हो कि मैं बेईमान नहीं हूँ, मैं गरीब हूँ। मैं दिन-रात मेहनत करता हूँ। अपने सारे घर को सम्भालता हूँ, तो भी नहीं सम्भलता। कभी कपड़े-लत्ते नहीं हैं, तो कभी राशन नहीं है। कभी दवा-दारु के लिए पैसा नहीं है, पगार नहीं है, यद्यपि वरसोवा की आबादी शरणार्थियों के आने से दस गुनी बढ़ गई है, और इसी हिसाब से कम्पनी को लाभ भी हो रहा है। लाभ बढ़ा है और चीज़ों के दाम भी बढ़े हैं। लेकिन मेरी पगार वही है। इसमें मेरी चाय और बीड़ी के पैसे भी नहीं निकलते। सवेरे से रात

के साढ़े दस बजे तक इस बस में खड़ा रहता हूँ, इसकी छत ताकता रहता हूँ, और एक आना, दो आना, ढाई आना और साढ़े तीन आने के टिकट बाँटता हूँ। यह अंधेरी है। यह वरमावाड़ी है। यह शेरुबिल है, यह चारबंगला है। यह सतबंगला है, यह पिकनिक काटेज है। यह मछलीमार है। यह दरिया महल है। यह वरसोवा है। यह मेरे जीवन का चक्कर है। एक घण्टी, रुक जाओ। दो घण्टी, चलो। टिकट काटो, आओ, आओ, फिर आओ और फिर जाओ...।

धरती क्या है? नीला आकाश क्या है? लहरों पर सफेद झाग कैसे चमकती है? गोरे पिंड किस तरह समुद्र-तट पर सो जाते हैं और काली लटें किस तरह रेत पर बिखर जाती हैं? यह सब पिकनिक काटेज में आने वाले शौक़ीन जानते हैं। हम तो पिकनिक काटेज से गुज़र जाने वाले है, जिनके जीवन में न पिकनिक है, न काटेज है। अब अगर आप यह ढाई आने छोड़ देंगे तो मैं सिगरेट-बीड़ी, चाय-पानी ले सकूँगा वरना...!

बस कंडक्टर की मुसकराहट उसके होंठों में खिंचकर दर्द की लम्बी लकीर बन गई थी और उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलकने लगी थीं। उसकी परेशानी दूर करने के लिए मैं जल्दी से मुसकरा दिया और अब उसकी मुसकराहट में एक नई मुसकराहट इस तरह खिल उठी, जिस तरह बरसाती फुहारों में एकाएक धूप चमक उठती है। बस कन्डक्टर सन्तोष की साँस लेकर और घूमकर दूसरे मुसाफिरों का टिकट काटने लगा।

अन्धेरी स्टेशन पर बस रुकी तो मैंने पाँच आने देकर चर्चगेट का टिकट कटाया। यहाँ पर भी टिकट देने वाला खुद रेलगाड़ी का कन्डक्टर होता तो वह भी ज़रूर कोई गोलमाल करता। मुझे एक आने का टिकट देकर और चार आने खुद अपने पास रखकर मुझे सीधा चर्चगेट पहुँचा देता। इस बेईमान समाज में ईमानदारी वहीं बरती जाती है, जहाँ बेईमानी की गुँजाइश न हो। यह सोचकर मैंने मुँह का मज़ा बदलने के लिए पान खाया। एक आने वाले दो गोल्ड फ्लेक सिगरेट लिए। एक सिगरेट जेब में डाला, दूसरा मुँह में लगाकर सुलगाया। स्टेशन के फलवाले के पास बड़े उम्दा आम रखे थे। मैंने जोर का एक कश लगाकर उसका धुआँ उन आमों की तरफ छोड़ दिया, और 'रॉयल क्लास' में आकर बैठ गया, और पास बैठे हुए आदमी से अखबार माँगकर पढ़ने लगा। अखबार के हर पन्ने पर हर कालम में किसी लाल सेना, लाल देश और लाल खतरे का उल्लेख था। मैंने सोचा, ये पूँजीपतियों के अखबार ही सबसे ज़्यादा कम्युनिस्टों का प्रोपेगन्डा करते हैं। मुझे अखबार पढ़ते हुए देखकर एक साँवले रंग के चौड़े-चकले जवान ने कहा–''क्यों जी, वह शँघाई के बाद लाल सेना आगे कहाँ जाती है? यह अखबार क्या कहता है?''

मैंने कड़ककर पूछा–''क्यों, क्या तुम लाल बावटे वाले हो?''

वह बोला–''मैं मज़दूर हूँ।''

मैंने कहा–''तुम हिन्दुस्तान में रहते हो, फिर चीन की लाल सेना से क्या सरोकार है?''

उसने फिर कहा–''मैं इसलिए पूछता हूँ क्योंकि मैं मज़दूर हूँ।''

मैंने गम्भीरता से कहा–"तो सुनो। लाल सेना शँघाई से आगे बढ़कर फूचाऊ तक पहुँच गई है।" और इसके बाद उसकी रान पर ज़ोर से हाथ मारकर चीखा–"ओ हो दम चिखा डिकडिक!"

उसने पूछा–"जनाब, इसका मतलब क्या हुआ?"

मैंने कहा, "मतलब कुछ नहीं। इसका मतलब यही है कि मैं बहुत खुश हूँ।"

वह बोला–"यह क्या बकवास है? मैं खुश होता हूँ तो सीधा कहता हूँ : लाल बावटे की जय!"

मैं हँसने लगा और वह भी हँसने लगा। फिर उसने ज़ोर से मेरी जाँघ पर हाथ मारकर कहा–"बीड़ी पिलाओ।"

मैंने अपनी रान सहलाते हुए गोल्ड फ्लेक का सिगरेट पेश किया। वह बहुत खुश हुआ। कहने लगा–"तुम भले आदमी मालूम होते हो। तुमसे खूब निभेगी। बताओ यहाँ बम्बई में क्या करते हो?"

मैंने कहा–"मैं लेखक हूँ।"

वह बोला–"तब तो बहुत ही बुरी हालत होगी तुम्हारी।"

"वह कैसे!" मैंने पूछा।

"इसलिए कि जब तक रोटी न मिलेगी किताब कौन पढ़ेगा? तुम कहीं मज़दूरी क्यों नहीं कर लेते?"

"यह भी तो मज़दूरी है?"

"मेरा मतलब इस तरह की मज़दूरी से है, जिस तरह मैं, जो मैट्रिक पास हूँ, बम्बई सेंट्रल पर कुलीगीरी करता हूँ, बोझ उठाता हूँ, मेहनत करता हूँ और दूसरे मज़दूरों में जागृति फैलाता हूँ। यह मेरे हाथ का निशान देखते हो? जबड़े पर निशान देखो, यह..." उसने पायजामा ऊपर करके टाँग पर घाव का निशान दिखाया–"सब निशान ट्रेड यूनियन की लड़ाई के तमग़े हैं।"

मैंने कहा–"हाँ, बहुत मज़बूत दिखाई देते हो।"

उसने कहा–"अब तो कुछ भी नहीं रहा। पहले मैं बहुत तगड़ा था। अब तो चोटें खा-खाकर जिस्म अन्दर से खोखला हो गया है। अब मैं कभी लड़ता हूँ, ज़ोर से चीखता हूँ और नारे लगाता हूँ तो कनपटियाँ दुखने लगती है, चेहरे का रंग उड़ जाता है। डाक्टर ने कहा है, 'दूध पीओ और बादाम खाओ, छ: महीने तक।' अब उस उल्लू को कौन समझाए कि यह पूँजीपतियों का समाज है। इसमें दूध और बादाम मज़दूर को नहीं मिल सकते। उसकी किस्मत में भूख है, और बेकारी है, अनपढ़ रहना है और फिर राष्ट्रीय सरकार है।"

मैंने कहा–"मैं अपनी राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं सुन सकता।"

उसने कहा–"अभी जुजुत्सु का ऐसा फेंटा दूँगा कि दिमाग के सारे ख़ाने ख़ाली हो

जाएँगे।''

''तुम जुजुत्सु जानते हो?''

''हाँ, मैं फौज में था, इससे पहले सिपाही था। मैं मलाया और बर्मा में लड़ा हूँ, जापानी फासिस्टों के विरुद्ध। इसके बाद लड़ाई खत्म हो गई और मैं, जो आज़ादी का सिपाही था, आज़ादी मिलते ही बेकार हो गया। इसीलिए मेरे लिए अभी तक लड़ाई खत्म नहीं हुई। मैं अभी तक फासिस्टों से लड़ रहा हूँ। इसके लिए मुझे जुजुत्सु जानना ज़रूरी है। इसमें एक खास बात यह है कि चोट एक खास जगह पर ऐसी लगाई जाती है, कि बड़े से बड़ा दुश्मन चित हो जाता है। देखो–हम हाथ की इस हड्डी से काम लेते है।'' उसने मेरी अँगूठे के नीचे की हड्डी को मसलते हुए कहा।

मैंने कहा–''यह तो बड़ी छोटी-सी हड्डी है, और गोश्त भी कितना नरम है!''

उसने कहा–''यह भी एक साइंस है। इस छोटी-सी हड्डी से इन्सान की खोपड़ी तक हिल जाती है। तुम्हें दिखाऊँ?''

मैंने कहा–''खोपड़ी नहीं, यहाँ मेरे हाथ पर तजुरबा कर सकते हो।''

सो उसने वही तजुरबा किया। इसके बाद क्या हुआ मुझे पता नहीं। हाँ जब बम्बई सेन्ट्रल आया तो मैंने देखा मेरे आस-पास बहुत-से आदमी खड़े हैं और वह मुझे ज़ोर-ज़ोर से सहला रहा है। मुझे होश में आते देखकर कहने लगा–''क्यों, अब क्या हाल है?''

मैंने उठने की कोशिश करते हुए कहा–''कुछ नहीं, मैं बिलकुल ठीक हूँ, कामरेड।''

वह बोला–''कभी बम्बई सेन्ट्रल आओ तो मुझे ज़रूर मिलना। किसी से पूछ लेना कि वाजिद कुली कहाँ है। सब जानते हैं। लाल सलाम!''

मैंने कहा–''उहूँ दम चिखा...''

उसने घूरकर मेरी तरफ देखा। मैं जल्दी से मुँह मोड़कर बैठ गया। उसी दम गाड़ी भी चल दी, वरना जुजुत्सु का दूसरा दाँव मुझे न जाने क्रान्ति की किस मंजिल पर ले जाता!

चर्चगेट पहुँचकर मैं हार्नबी रोड की सजी हुई काँच की खिड़कियों को देखता गया। मैं आज बहुत अमीर था। जेब में चार रुपए और कुछ पैसे थे और दूकानें खूबसूरत चीज़ों से सजी हुई थीं। आज तो मैं सारी बम्बई खरीदकर ले जाऊँगा-मैंनेसोचा।

यहाँ पर घड़ियों की नई दुकान थी। एक घड़ी ऐसी थी जिसका ऊपर से कोई कल-पुर्ज़ा नहीं दिखता था, लेकिन फिर भी चलती थी। मैंने सोचा : 'यह है पूँजीपति की घड़ी। साली का कोई भी पुर्ज़ा ठीक नहीं है, तो भी घिसट रही है!' इसके दाम पूछे। दुकानदार ने ढाई सौ रुपए बताए। मैंने सोचा, आगे चलूँ। यहाँ पर एक सिंधी शरणार्थी की दुकान थी। कीमत बाईस रुपए, अठारह रुपए और सोलह रुपए और बारह रुपए से कोई नीची नहीं थी। मैं आज बहुत मालदार था, फिर भी यह कमीज़ नहीं खरीद सकता था।

आगे ह्वाइटवे लेडला की काँच की दीवारों में से मोमी औरतें पतले ऊँचे साये (फ्राक)

पहने झाँक रही थीं। आजकल अमीर औरतें भी ज़िन्दगी से मौत की तरफ जा रही हैं। उनके श्रृंगार में मोम की गुड़िया का-सा ठहराव है। जब ऐसा मेकअप होता है, तो हरकत नहीं होती। जब हरकत नहीं होती तो ज़िन्दगी नहीं होती। जब ज़िन्दगी नहीं होती तो बदबू होती है, जिसे पेरिस का इत्र भी नहीं छिपा सकता। जब पेरिस में भी नहीं छिपा सकता तो यहाँ क्या छिपाएगा जहाँ विदेशी साम्राज्य के साथ स्वदेशी स्वराज की लाश सड़ रही है।

सजी हुई दुकानों पर रेशमी कपड़े थे। कमीजे, गरम पतलूनें, घड़ियाँ, फाउन्टेनपेन, बूट जुराबें, रुमाल, ब्लेड, चीनी की प्लेटें, बरसातियाँ, गलीचे और गुलदान मौजूद थे। और वहाँ फूलदान थे, लेकिन फूल नहीं थे और हल नहीं थे; फावड़े, दरातियाँ, ट्रैक्टर, काँस-बार, रेंच और स्पिडल नहीं थे। हार्नबी रोड पर अनाज नहीं मिलता, फूल नहीं मिलते, बच्चों की किताबें नहीं मिलतीं।

मैं चार रुपए लेकर आया था। मगर यहाँ तो दाँव बहुत ऊँचे थे। जितने ऊँचे दाँव, उतने ऊँचे दाम, उतना ऊँचा लाभ और उतनी गहरी गरीबी। गरीबी का ख्याल आते ही यह भी ख्याल आया कि सुबह से बेकार घूम रहा हूँ, अभी तक खाना नहीं खाया। फोर्ट में फिरोज़शाह मेहता रोड की एक तंग-सी गली में मुझे एक मद्रासी होटल का पता था। यहाँ बहुत अच्छा और सस्ता खाना मिलता है। नौ आने में दही-बड़े, दोसा मसाला और मैसूर पाक खाके और ऊपर से एक मीठा मद्रासी पान चबाके, जिसका मज़ा केले के पत्ते जैसा होता है, मैंने सन्तुष्टि की डकार ली। इसके बाद हार्नबी रोड से घूमता हुआ विक्टोरिया टर्मिनस की तरफ चला गया। विक्टोरिया टर्मिनस बहुत अच्छी जगह है बम्बई में। वहाँ एक तरफ सिनेमा हाल है, दूसरी तरफ स्टेशन है, तीसरी तरफ फौजी अदालत है। बीच में नेताओं के बुत हैं जिनके फरिश्ते पर फैलाए खड़े हैं। चौथी तरफ खाली है, जहाँ समाज की चौथी चूल भी ठीक से बैठ जाती। लेकिन फिर ख्याल आया कि राष्ट्रीय सरकार के होते हुए इसकी ज़रूरत ही क्या है?

सिनेमा हाल के पीछे एक बहुत बड़ा खाली मैदान है, जहाँ अँग्रेज़ी राज्य में पुलिस की परेड हुआ करती थी। आजकल यहाँ खद्दर की नुमाइश होती है। यह नुमाइश और वह नुमाइश और एक बार अन्तरराष्ट्रीय नुमाइश भी हुई थी, जिसमें यद्यपि दुनिया के हर देश के लोगों ने हिस्सा नहीं लिया था, तो कभी कम से कम उन देशों के झण्डे ज़रूर थे ताकि दुनिया को मालूम हो जाए कि हिन्दुस्तान ही एशिया का रक्षक नेता बन सकता है। बम्बई की यह नुमाइश थोड़े दिनों तक रही, फिर जल गई। दिल्लीवाली नुमाइश अभी तक नहीं जली; इसके लिए शायद वाजिद कुली को बुलाना पड़ेगा।

खाना खाने के बाद मैं हमेशा आराम करता हूँ। इसलिए मैं इस मैदान में पड़कर सो गया। मेरे सिर के ऊपर गुलमोहर का एक पेड़ था, जिसमें लाल कम्युनिस्ट फूल खिले हुए थे। इन पेड़ों की टहनियों पर लाल दुम वाली चिड़िया शोर मचा रही थी और एक गुजराती लड़की लाल फूलदार साड़ी पहने जा रही थी और सिनेमा हाल की दीवारों पर लाल शब्दों में लिखा हुआ

था– ''Red Skeleton in Redhouse '' इस लाल खतरे के बीच में यह मेरी ही हिम्मत थी कि मैं आँख बन्द करके सो गया। पता नहीं मैं कितनी देर तक सोया रहा। एकाएक मैं घबराकर जाग उठा। किसी ने बड़े ज़ोर से मेरी कमर में ठोंका दिया था। देखा तो एक चौकीदार खड़ा था।

मैंने पूछा–''क्या बात है?''

वह बोला–''तुम यहाँ सोने को नहीं सकता है।''

मैंने कहा–''क्यों नहीं सकता है?''

वह बोला–''हम बोलता है, नहीं सकता है।''

मैंने उसकी हथेली पर आठ आने रख दिए और पूछा–''अब सकता है कि नहीं सकता?''

उसने अठन्नी जेब में डाली और मुसकराकर कहने लगा–''अब सोने को सकता है।''

मैंने पूछा–''तुम्हारी ड्यूटी यहाँ कब तक है?''

वह बोला–''हम दो कलाक (घंटे) और है।''

मैंने कहा–''मैं दो कलाक और सोता हूँ। तुम इस पेड़ के नीचे खड़े होकर पहरा दो और देखो कोई दूसरा चौकीदार मुझे तंग न करे। दो कलाक के बाद मुझे जगा देना। मैं तुम्हें एक अठन्नी और दूँगा, समझे।''

उसने सिर हिलाकर कहा–''हूँ।'' वह पेड़ के तने से सहारा लगाकर खड़ा हो गया और मैं सो गया। दो घंटे के बाद उसने मुझे जगा दिया और कहा–''उठो, हमारी ड्यूटी खतम है, दूसरा चौकीदार आने को है।''

मैंने उसे दूसरी अठन्नी देकर कहा–''शाबाश! तुमने बहुत अच्छा किया। मुझे आराम करने दिया। वरना मेरे सिर में दर्द हो जाता। अच्छा, अब बताओ कि यहाँ से तुम अपने घर जाओगे?''

''हाँ।''

''तुम्हारे कितने बच्चे है?''

''दो! एक लड़का है, स्कूल जाता है। एक लड़की है दो साल की। आज मैं उसके लिए विलायती दूध का डिब्बा लेकर जाऊँगा।'' उसने खुश होकर कहा।

मैंने कहा–''जो पगार तुम्हें मिलती है क्या उसमें तुम्हारा गुज़ारा नहीं होता?''

वह बोला–''अगर गुज़ारा होता तो हमारा क्या भेजा फिरे है, जो दो घंटे तुम्हारी ड्यूटी देता। उहूँ!'' चौकीदार नाराज़ होकर चला गया।

मैं मेट्रो सिनेमा की तरफ बढ़ गया, जहाँ मुर्गीख़ाने की तरह शरणार्थियों के लिए लकड़ी की छोटी-छोटी दुकानें हैं। इन दुकानों पर अधिकतर पुराना (सेकण्ड हैंड) माल बिकता है। पुराने जूते, पुरानी मशीनें, पुराने कपड़े, शरणार्थियों की तरह घिसे हुए और बुरे हाल और दो-तीन सिन्धी रेस्तराँ भी हैं, जहाँ चाय, आलू की टिक्कियाँ और पापड़ मिलते हैं। मैंने चायवाले

की दुकान से एक तला हुआ अण्डा खाया। आलू की टिक्कियाँ जहाँ थीं वहाँ से दो आने में एक आलू की टिक्की खाई। फिर दो आने की भुजिया और दो आने की पापड़ी खाई। एक आने की चाय पी। मैदान में सोने से बाल उलझ गए थे इसलिए दो आने का एक पुराना कंघा ख़रीदा और उसे वालों में फेरता हुआ आगे निकल गया तो आवाज़ आई :

''आ पुत्तर! खाना खा ले।''

मैंने ध्यान से देखा, एक पंजाबी बुढ़िया थी। बाल सफेद, चेहरे पर झुर्रियाँ और धूप, वर्षा, मेहनत और दु:ख के निशान थे। दुपट्टा मैला था लेकिन चेहरे पर ऐसी उदास दु:खभरी मुसकराहट थी, जो दिल को अपनी तरफ खींच लेती थी। वह यहाँ एक छोटी-सी दुकान लगाए बैठी थी। एक तरफ तवा रखा था। परात थी, चिमटा था, चूल्हा था और हंडिया में सालन था। आटा गुँधा रखा था। वह चपातियाँ उतारकर दो मुसाफिरों को खिला रही थी। मैं रुक गया।

मुझे रुका देखकर उसने मैले दुपट्टे को अपने माथे पर सरका लिया और मुसकराकर बोली–''आ पुत्तर, रोटी खा ले। तू पंजाबी मालूम होन्दा है।''

मैंने टप्पर के अन्दर जाकर उससे पूछा–''माँ, तू यह काम क्यों करती है?''

वह बोली–''और क्या काम करूँ बेटा? मुझे यही काम आता है। मैंने जिन्दगी-भर अपने घरवालों के लिए खाना पकाया है। अब अपने मुसाफिर बेटों के लिए खाना पकाती हूँ।''

मैंने कहा। ''माँ, तुम कहाँ की रहने वाली हो?''

''पुत्तर, मैं जालन्धर की रहने वाली हूँ। वहाँ मेरा घर था, मेरी ज़मीन थी, मेरे बाल-बच्चे थे, मेरी बहू थी, मेरी गाय-भैंसे थीं। घर में दूध, शक्कर, इज़्ज़त-आबरु सब कुछ था, लेकिन मेरी गली के बेटों ही ने मेरा सब लूट लिया।''

मैंने कहा–''माँ, तुम पाकिस्तान क्यों नहीं चली जातीं?''

उसने कहा–''मेरे बच्चों की कबरें उसी जालन्धर के चौराहे पर हैं जहाँ घरवालों को ज़िन्दा आग में जला दिया गया था। मेरी बहू की लाज और पत भी हिन्दुस्तान में रो रही है। मेरे घर की गाय-भैंसों को भी मेरे जानने-पहचानने वाले लोग ले गए हैं और मेरा घर अभी तक जालन्धर में है। उसमें शहर का कोई बड़ा आदमी रहता है। मेरी लड़ाई तो अपने लोगों से है। मैं तो यहीं लड़ूँगी, यहीं मरूँगी। अगर मैं पीराँदित्ते की बेटी हूँ तो एक बार फिर जालन्धर वापस जाऊँगी।''

इतने में एक मुसाफिर और आ गया और कहने लगा–''अम्माँ, दो आने का सालन दे और दो रोटियाँ दे दे।''

मैंने कहा–''अम्माँ! तुम यहाँ एक तन्दूर लगा लो, बस।''

वह बोली–''तन्दूर के लिए बड़ी मेहनत करनी पड़ती है, बेटा! अब मेरे हाथ-पाँव में ताकत नहीं रही।'' वह चुप होकर चूल्हे पर चपाती सेंकनी लगी, और उसके चेहरे पर अजीब मुसकराहट आ गई। और फिर धीरे-से बोली–''जालन्धर के घर में आँगन में मैंने एक तन्दूर बनवाया था, वहाँ मेरी बहू दोपहर को गेहूँ की ऐसी गरम और खस्ता रोटियाँ पकाती थी कि तुम अगर खाते

तो पेशावरी नान भी भूल जाते।'' एकाएक उसाकी आवाज़ भर्रा गई और बोली–''पता नहीं आजकल वह जनमजली कहाँ है!'' अम्माँ रोने लगी, उसकी आँखों से आँसू बहने लगे और तवे पर गिरकर सूखते गए। ये आँसुओं में पकी हुई रोटियाँ मेट्रो सिनेमा के सामने सिर्फ दो आने में मिलती हैं। सोच रहा हूँ कि किसी रोज़ एशिया के सबसे बड़े नेता पंडित जवाहरलाल नेहरु की यहाँ दावत करूँगा।

मेट्रो सिनेमा के बाहर ऐसे चमकते चेहरे थे, ऐसी भड़कीली पोशाकें थीं, ऐसी जगमगाती हुई बिजलियाँ थीं। विलियम पावल अधनंगी औरतों में घिरा हुआ था। औरतें खूबसूरत कपड़े पहने हुए... मर्द चमकती हुई मोटरों से उतरकर उन औरतों को इस तरह घूर रहे थे जैसे उन्हें अपने दाँतों से चबा जाएँगे। आँखों में वह भूख थी, वह गरमी थी, वह क्रूरता थी जो पुकार-पुकारकर कह रही थी कि अगर ये औरतें ज़िन्दा होतीं तो ये लोग इन्हें इन इश्तहारों से नीचे उतारकर यहीं मेट्रो सिनेमा के सामने, इनकी लाज लूट लेते। हालीवुड ने इस भावना का नाम 'एंटरटेनमेन्ट' रखा है। और यह एंटरटेनमेन्ट हिन्दुस्तानी फिल्मों में उसी तरह घुस गई है जिस तरह डालर हिन्दुतानी अर्थशास्त्र में घुस गया है और घटिया अमरीकन नावल हिन्दुस्तानी सभ्यता में घुस आया है।

साम्राज्य जीवन के हर अंग में व्यभिचार का समर्थक है। सुन्दरता, सच्चाई, पवित्रता, शान्ति, लाज, घर, खुशी, किताब, फूल, आराम इत्यादि सब चीज़ों को वह नंगा करके उससे व्यभिचार करता है, इसके बाद उसे महँगे-सस्ते दामों बाज़ार में जाकर बेच देता है।

चीज़ की इज़्ज़त नहीं है, चीज़ की कीमत है जो हमेशा घटती-बढ़ती रहती है। कभी इनफ़लेशन है तो कभी डिपलेशन है। अन्त में सदा युद्ध है, जो कि शान्ति के साथ एक तरह का व्यभिचार है।

अभी खेल शुरु होने में डेढ़ घंटा बाकी था, लेकिन दस आने की टिकट खरीदने वाले दर्शकों की एक लम्बी लाइन लगी हुई थी। मैं भी जाकर 'क्यू' में खड़ा हो गया। मेरे बाद एक दुबली-पतली काली लड़की आई जो फूलदार छींट का एक तंग फ्राक पहने हुए थी। यह फ्राक ऊपर से तंग था और नीचे से घेरेदार था। बीच में उसने ज़ोर से खूब खींचकर एक पेटी बाँध रखी थी, जिससे शरीर के दो हिस्से हो गए थे। एक धड़ से ऊपर, एक धड़ से नीचे। इसका नाम यारों ने 'खूबसूरती' रखा है। यानी औरत पेटी के खिंचाव से, और ऊँची एड़ी के दबाव से यूँ चलती है कि ऊपर का हिस्सा नीचे और नीचे का हिस्सा ऊपर जाता हुआ मालूम होता है। सीने पर छातियाँ अपनी असली हालत में नहीं बल्कि यूँ तनी-तनी हुई दिखाई देती हैं जैसे किसी ने रेंच से पेच ज़ोर से कस दिए हों। इसके साथ चेहरा यूँ लिपा-पुता होता है कि यह मालूम ही नहीं हो सकता कि कितने छिलकों के बाद बादाम की गुठली आती है और कितनी तहों के बाद औरत शुरु होती है! इस ढकोसले का नाम पैसेवालों के समाज ने 'सुन्दरता' रखा है। कई लोग तो इसे 'कला' भी कहते हैं, जो सरासर कलाकारों का अपमान है।

खैर, वह एक ऐसी ही लड़की थी। मैंने उसकी तरफ देखा, उसने मेरी तरफ नहीं देखा। फिर उसने उस समय देखा जब मैंने उसकी तरफ नहीं देखा। फिर हम दोनों ने एक-दूसरे की तरफ तिरछी नज़र से देखा।

बाद में तिरछी नज़रें धीरे-धीरे सीधी होते-होते यूँ आमने-सामने हो गईं कि हमें मुसकराना ही पड़ा।

इसके बाद मैंने कहा–''बड़ा लम्बा क्यू है। जाने हमारी बारी आएगी या नहीं?''

वह बोली–''तुम्हारी बारी तो शायद आ जाए, लेकिन मेरी नहीं आएगी।''

मैंने कहा–''अगर मेरी बारी आ गई तो मैं अपना टिकट तुम्हें दे दूँगा।''

उसने अपने कन्धे पर लटके हुए बटुए को ठीक करते हुए कहा–''थैंक यू।''

मैंने कहा–''अब तो यह पूछ लेने में कोई हर्ज नहीं कि तुम्हारा नाम क्या है।''

''डायना फ़र्नेंडिस। और तुम्हारा?''

''मेरा नाम क्रिश्चियन चन्दर है।''

वह हँसी–''यह क्रिश्चियन चन्दर क्या होता है?''

मैंने कहा–''बस, जैसे मुमताज शान्ति होता है, सैय्यद अमृत होता है। बस ऐसे ही मेरा नाम भी है।''

वह बोली–''तुम बड़े फ़नी (रसिक) हो।''

मैंने कहा–''तुम चाय पियोगी–सामने के ईरानी रेस्टराँ में?''

''चलो, लेकिन फिर क्यू में जगह नहीं मिलेगी।''

''क्यों नहीं मिलेगी?'' मैंने कहा–''मैं अभी अपने आगे के आदमी से कह देता हूँ, तुम अपने पीछे वाले से कह दो।''

अब हमें क्यू के पड़ोसियों ने इजाज़त दे दी तो हम लोग रेस्टराँ में चाय पीने चले गए।

चलते-चलते मैंने सुना–हमारे पड़ोसी कह रहे थे कि 'साला पटा रहा है!'

दूसरे ने कहाँ–''लड़की भी क्या है? काली बत्तख है।''

पहले ने कहा–''अरे लड़की तो है?''

डायना ने कहा–'' Swines (सुअर)!''

चाय पी चुके तो डायना ने कहा–''मैं पोटेटो चिप्स की एक पुड़िया घर ले जाऊँगी।'' दो आने वह दिए। फिर वह कहने लगी–''मुझे बालों में लगाने के लिए हरे रंग का क्लिप चाहिए।'' चार आने वह दिए। फिर वह कहने लगी कि मैंने उसके कहने से पहले ही कह दिया–''चलो, बुकिंग ऑफिस खुल गया है, बाद में टिकट नहीं मिलेगी।''

टिकट लेकर हम लोग अन्दर पहुँचे। सिनेमा देखते हुए डायना ने मुझसे ऐसा व्यवहार

किया जैसे सचमुच मैं उसे पटा रहा था। हालाँकि ऐसी कोई बात नहीं थी। मेरी तरफ देखकर वह दो-तीन बार हँसी और दो-तीन बार उसने चुटकी ली। जब इसके बाद भी मैं अपनी अहिंसा पर अटल रहा तो उसने मेरे कन्धे पर अपने रूखे काले बालों वाला सिर रख दिया और आराम से बैठकर तमाशा देखने लगी।

सिनेमा खत्म होने के बाद उसने मुझसे पूछा–''अब हम कहाँ जाएँगे?''

मैंने कहा–''कहीं नहीं। तुम अपने घर जाओगी और मैं अपने घर।'' वह मेरी तरफ हैरानी से देखने लगी।

मैंने पूछा–''तुम्हारा घर कहाँ है?''

''कोलाबा में।''

''चलो मैं तुम्हें नुक्कड़ तक छोड़ आऊँ।''

वह उखड़े-उखड़े से अन्दाज़ में परेशान होकर चलने लगी, जैसे वह कुछ समझ न रही हो। मैं भी कुछ नहीं समझ रहा था। और हम दोनों इन्हीं विचारों में उलझे हुए नुक्कड़ के बिजली के खम्भे के नीचे बस का इन्तज़ार करने लगे। इतने में हल्की-हल्की बारिश होने लगी और मानसून के मोती उसकी झुकी हुई पलकों पर टिकते गए और टूट-टूटकर उसके गालों पर बहते गए। क्या इन बहते हुए मोतियों में उसके आँसुओं का बहाव भी मिला हुआ था? मैं कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि अब बारिश तेज़ होने लगी थी, और ऊपर से बिजली के बल्ब से पानी एक पिघली हुई आग की तरह गिर रहा था। और एकाएक मुझे ऐसा लगा कि इस तेज़ बारिश ने उसकी सारी बदसूरती धो दी है। उसके काले बाल चमक उठे, उसके भीगे हुए गाल तमतमा गए और बारिश के लगातार चुम्बनों से उसके कासनी होंठ रेशम की तरह मुलायम हो गए, यूँ खिल गए जिस तरह बारिश की हल्की फुहार से फूल खिल जाते हैं और बिजली के हण्डे के चारों ओर रोशनी का कुण्डल बन जाता है और सुरमई सड़क पर पिघली हुई चाँदी फैल जाती है। इस तरह बारिश ने खम्भे के नीचे खड़ी हुई एक उदास और निराश लड़की को अमिट सुन्दरता की सुनहरी पोशाक पहना दी।

मैंने डायना को अपने कन्धे से लगा लिया। उसका उदास चेहरा उस समय बहुत सुन्दर था और उसके काले बालों की लटें भीगी हुई, किसी अनजानी सुगन्ध से महक उठीं। मैंने धीरे-से कहा–''गुडबाई डायना।''

वह वहीं रुकी और बोली–''तुम मुझसे प्रेम नहीं करोगे?''

मैंने उससे कुछ नहीं कहा–लेकिन मैंने अपने दिल में यह ज़रूर कहा–नहीं, मैं तुमसे प्रेम नहीं करूँगा। आज तुम घर जाओगी, कोलाबा अपनी माँ के पास, अपने छोटे भाई के पास। और उस सच्ची मुहब्बत का इन्तज़ार करोगी जो तुम्हारी ज़िन्दगी में आने वाली है। वह ज़रूर आएगी। ऐसे बेकार ढूँढ़ने से, पराए मर्दों के साथ घूमने से, वो मुहब्बत नहीं आती है। यह मुहब्बत, मेहनत और काम करने से आती है। जहाँ से वो मुहब्बत आती है, वहीं से वो सुन्दरता आती है जो

मेहनत से पैदा होती है। फिर तुम सचमुच हसीन और सुन्दर हो जाओगी और कोई मर्द, कोई काम करने वाला, मेहनत करने वाला मर्द, जो शायद कोई डीसूजा या डीसिल्वा होगा, तुम्हें ब्याह कर ले जाएगा। और फिर तुम अपना छोटा-सा घर बसाओगी और तुम्हें मालूम होगा कि मुहब्बत इसलिए होती है कि ममता हो, और ममता इसलिए होती है कि बच्चा हो, और बच्चा इसलिए होता है, कि इन्सान आगे बढ़े और दुनिया में एक नई सुन्दरता, एक नया जीवन पैदा हो।

''जाओ, डायना, जाओ।'' मैंने डायना के माथे को चूमकर कहा।

डायना की आँखों में आँसू थे। वह मेरी अनकही बातें कुछ समझी, कुछ नहीं समझी, लेकिन चूँकि वह औरत थी इसलिए बहुत कुछ समझ गई। उसने बड़े तपाक-से मुझसे हाथ मिलाया और मैंने चलते-चलते कहा:

''जब तुम्हारे घर बेटा हो, डायना, तो आज की रात की याद में उसका नाम क्रिश्चियन चन्दर रखना।''

वह चलते-चलते हँस पड़ी और हँसते-हँसते बोली–''नहीं, मैं तो उसका नाम विलियम पावेल रे रखूँगी। कितना खूबसूरत आदमी है!''

''गुडनाइट, डायना!''

''गुडनाइट, क्रिश्चियन।"

पैसे सब खत्म हो चुके थे। जेब में सिर्फ दो पैसे थे और एक गोल्ड फ्लेक का सिगरेट। गाड़ी में बिना टिकट बैठा। बाँदरा के करीब मुझे एक टिकट-चेकर ने भाँप लिया और मुझे गाड़ी से नीचे उतार दिया। मेरे पास रिश्वत को पैसे भी नहीं थे।

''कुछ तो निकालो...'' आखिर तंग आकर टिकट-चेकर ने कहा।

जब उसने कहा 'कुछ तो निकालो' तो मैंने उसके चेहरे को देखा जिसपर बेईमान समाज के दाग थे और नेकी को कायम रखने की असफल कोशिश थी। टिकट-चेकर का चेहरा टिकट-चेकर की रसीद-बुक था, जिसे जगह-जगह पर 'पन्च' कर दिया गया था।

मैंने कहा–''मेरे पास दो पैसे हैं।''

उसने झल्लाकर कहा–''तो थाने चलो।''

मैंने उसके कोट को देखा, जिसका कालर फटा हुआ था, पतलून जो पायचे के पास उधड़ गई थी। टाई जो गाँठ के पास फटी हुई थी। पतले सूखे होंठ अधूरे अरमानों का तार-तार। कमीज़ के कफ में बटन तक नहीं थे। एकाएक मुझे अपने कमीज का ख्याल आया। मेरी कमीज़ में सुनहरी बटन थे। कभी दो रुपए चार आने में लिए थे। मैंने अपनी कमीज़ के कफ बटन उतारे और उसे दे दिए।

उसने ले लिए और कहा–''चलो, यही सही।''

फिर उसने मुझे धमकाते हुए कहा–''अगर फिर कभी तुम मुझे बिना टिकट सफर करते हुए

नज़र आए तो...।''

''तो'', मैंने कहा, ''मैं तुम्हें बटनों की जोड़ी भेंट करूँगा।''

वह हँसने लगा, कहने लगा–''बाबू, तुम सब कुछ जानते हो। नब्बे रुपए तनख्वाह मिलती है। इसमें गुज़र-बसर नहीं होती। और कोई दाद-फरियाद सुनने वाला भी नहीं है।''

गाड़ी ने सीटी दी, मैं भागकर फुटबोर्ड पर चढ़ गया। टिकट-चेकर देर तक हाथ हिलाता रहा।

अन्धेरी स्टेशन पर उतरा तो टैक्सी के पैसे नहीं थे। बस जा चुकी थी, अरसा हुआ। घोड़ागाड़ी वाले भी दो रुपए माँगते थे। रास्ता तो बहुत लम्बा नहीं था, लेकिन रात का समय था और रास्ता वीरानी से गुज़रता था। मगर रुपए नहीं थे। मजबूरी थी, इसलिए पैदल चलना पड़ा।

भरडावाडी से 'शेरु विला' तक मैं सीटी बजाता हुआ आया। यहाँ तक कुछ घरों की आबादी थी, इसलिए सीटी की आवाज़ भी इत्मिनान से निकलती रही। लेकिन 'शेरु विला' के बाद कब्रिस्तान से जो सुनसान शुरु हुई तो सीटी की आवाज़ एकदम निकलनी बन्द हो गई। न कोई मुसाफिर था, न कोई मोटर गाड़ी नज़र आती थी। सड़क के दोनों तरफ नीची ज़मीन थी और किनारे-किनारे घनी झाड़ियाँ उगी थीं।

मन्दिर तक मैं खामोश चला आया। फिर हल्की-हल्की फुहार पड़ने लगी और मैंने बरसाती ओढ़ ली। जब मैं बरसाती ओढ़ रहा था तो किसी ने पीछे से आकर मुझे पकड़ लिया और कहने लगा–''जो है रख दो वरना मार डालूँगा।''

मैंने कहा–''जो है वह खुद ही ले लो न। मैं कुछ कहूँगा तो तुम्हें क्यों विश्वास आने लगा?''

''कितने पैसे है तुम्हारे पास?''

''दो पैसे है और एक गोल्ड फ्लेक का सिगरेट। कुल मिलाकर डेढ़ आना हुआ।''

''झूठ बोलते हो!''–इतना कहकर उसने मेरी जेबों की तलाशी ले डाली। जब कुछ नहीं मिला तो झुँझलाकर कहने लगा–''यह बरसाती उतार दो।''

मैंने बरसाती उतारकर उसे दे दी। उसने मेरी बरसाती ओढ़ ली। मैंने देखा, उसके हाथ में लोहे की एक मोटी-सी सलाख़ थी। हम दोनों सड़क पर धीरे-धीरे चलते गए। वह मुझसे दुगना लम्बा और कहीं ताकतवर आदमी थी, इसलिए शरीफों की तरह चलने में ही भलाई थी।

मैंने उससे पूछा-"सिगरेट पियोगे?''

''हूँ।'' उसने जवाब दिया। यह हूँ, हाँ भी हो सकता था और न भी।

मैंने सिगरेट के दो टुकड़े किए और एक टुकड़ा उसे दे दिया। सिगरेट पीते-पीते मैंने उससे

पूछा–''तुम यह काम क्यों करते हो?''

''न करूँ तो खाऊँ कहाँ से?''–वह चुप हो गया और मेरे साथ चलता गया। फिर झुँझलाकर बोला ''आज की रात खाली गई। जाने मुसाफिरों को क्या हो गया है? सभी ख़ाली हाथ आ रहे हैं।''

मैंने कहा–''तुम कोई काम क्यों नहीं करते?''

''काम तो करता हूँ। पत्थर की खान में काम करता हूँ। मगर उस मज़दूरी से कुछ पल्ले नहीं पड़ता। घर में हर समय भूख रहती है। बड़ा कुनबा है, तनख्वाह छोटी है, इसलिए यह काम करता हूँ।''

''कभी पाँच, कभी सात। कभी कोई सेठ हाथ लगा तो सौ-पचास भी मिल जाते हैं। यह धन्धा बुरा नहीं।''

चारबँगले के नुक्कड़ पर पहुँचकर उसने कहा–''मेरा जी तो नहीं चाहता कि यह काम करूँ, मगर क्या करूँ, इसका कोई इलाज मेरी समझ में नहीं आता।''

मैंने उससे कहा–''आओ। दो मिनट के लिए इस बेंच पर बैठ जाओ।''

उसने सन्देह की नज़रों से मुझे देखा।

मैंने कहा–''यहाँ इस समय कोई नहीं है। मैं किसी को पुकार भी नहीं सकता, किसी को बुला भी नहीं सकता। इसके पहले कि कोई आए तुम मुझे इस लोहे की सलाख़ से खत्म करके यहाँ से भाग सकते हो, इसलिए सन्देह करना बेकार है। आओ, यहाँ बैठ जाओ।''

उसने लोहे की सलाख़ उठाकर अपनी गोद में रख ली और बेंच पर बैठ गया।

मैंने कहा–''एक रास्ता है, अगर तुम उसे पसन्द करो तो?''

''वह क्या?''

''एक मिनट के लिए मान लो कि जिस पत्थर की खान में तुम काम करते हो, वह अगर तुम्हारी हो जाए।''

उसका चेहरा चमक उठा और वह बोला–''मैं खान के मालिक के घर एक बार चला गया था। कितना खूबसूरत था! रोशनी, फूल, सोने का...'' वह आँख बन्द करके कल्पना में उसका घर देखने लगा।

मैंने कहा–''तुम समझे नहीं। मेरा मतलब यह है कि खान सिर्फ तुम्हारी नहीं, बल्कि उन तमाम लोगों की हो जाए जो उसमें काम करते हैं। सारे मज़दूरों और मेहनत करने वालों की।'' उसने सोचकर कहा–''जब भी हमें बहुत फ़ायदा है।'' वह धीरे-धीरे लोहे की सलाख़ सहलाने लगा।

मैंने उससे पूछा–''तुमने कभी खान के मज़दूरों से बातचीत की है?''

"नहीं।" उसने धीरे से कहा–''वहाँ तो हर आदमी अपनी तकदीर को रोता है।"

मैंने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा–''तकदीर भी बदल जाती है, जब सब मज़दूर मिल जाते हैं। तुम लोग तो ज़िन्दगी की सच्चाई हो। सोचो तो, दरअसल वह खान तुम्हारी है। उसमें काम तुम करते हो, उसे चलाते तुम हो, पहाड़ में बारूद का पलीता तुम लगाते हो, चट्टान को डायनामाइट से तुम उड़ाते हो, पत्थरों को तुम तोड़ते हो, पत्थर काटकर लारी में तुम लादते हो। जब यह सारी मेहनत तुम करते हो तो अपनी मेहनत का फल किसी दूसरे को खाने क्यों देते हो?''

मेरी बात सुनते-सुनते उसका चेहरा लाल हो गया। वह सलाख़ सहला रहा था। सहलाते-सहलाते उसने ज़ोर लगाकर उसे दुहरा कर दिया।

उसने कहा–''यह बिलकुल नई बात तुमने बताई है।''

मैंने कहा–''नई बात नहीं हे, सौ साल पुरानी है। आज़माई भी जा चुकी है।''

वह सलाख उठाकर उठ खड़ा हुआ। बोला–''अब भी आज़मा सकते हैं। कल मैं अपने साथियों से बात करूँगा और तुम्हें बताऊँगा कल तुम मुझे यहाँ मिलोगे? इसी वक्त?''

मैंने उसकी बात पर सिर हिला दिया।

उसने मेरी तरफ़ ग़ौर से देखा, लोहे की सलाख़ की तरफ देखा, फिर उसने मुसकराकर लोहे की सलाख़ को घुमाकर दूर नीचे भरे हुए पानी में फेंक दिया। पानी में एक हलचल पैदा हुई जैसे कोई चीज़ डूब जाए और नई चीज़ उभर आए। उसने हाथ बढ़ाकर मेरे हाथ को दबाया और फिर उसने एक बीड़ी सुलगाई, बरसाती उतारकर मेरे कन्धे पर रख दी और खुद बारिश में भीगता हुआ चला गया।

गुलदुम

गाँव पहाड़ की चोटी पर था। चोटी नुकीली अवश्य थी, परन्तु सूई की नोक तो थी नहीं कि उसपर दस-पन्द्रह घर भी सुविधा से न बनाए जा सकें। ये सब घर एक-दूसरे के साथ लगे-लगे एक-दूसरे का सहारा पाकर चट्टानों के ऊपर चढ़ते चले गए थे। सबसे ऊँचे घर पर राजा साहब की पताका लहरा रही थी। ये घर राजा साहब के शिकारियों के थे। राजा साहब वर्ष में एक बार इस पहाड़ के रुख में शिकार खेलने आते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता कि वे दो या तीन वर्ष तक इस ओर न आते, परन्तु शिकारियों की स्वामीभक्ति की यह दशा थी कि राजा साहब की अनुपस्थिति में भी वे कभी किसी जन्तु का शिकार न करते थे। जन्तु का अर्थ यहाँ सुअर, रीछ और चीतों से है अन्यथा वैसे तो शिकारी रात-दिन तीतर, जल-कुक्कड़, भट लोमड़ और खरगोश का शिकार किया करते थे और न करते तो खाते क्या? पहाड़ पर जितनी भूमि खेती के योग्य थी वह सब सरकारी रुख में मिला ली गई थी। यह रुख पहाड़ की चोटी को छोड़कर जहाँ केवल चट्टानें ही चट्टानें दृष्टिगोचर होती थीं–नीचे की तलहटी से नाले तक फैली हुई थी। नाले के दूसरे किनारे से दूसरा पहाड़ आरम्भ होता था जो बिलकुल बीहड़, वनस्पति-रहित थी, जिसके पच्चीस मील आगे वह शहर था जहाँ राजा साहब के महल थे। इस गाँव से शहर इतनी दूर था कि अब्दुल्ला शिकारी के अतिरिक्त, जो हर तीसरे-चौथे महीने वहाँ शिकारियों का वेतन प्राप्त करने जाया करता था, किसी ने वह शहर न देखा था–जिसकी नदी पर एक पुल था, पुल के उस पार एक सुन्दर गढ़ था जिसकी बुर्जियों और झरोखों में नारंगी वर्दियाँ पहने सन्तरी खड़े रहते थे, और जिसके बागों में विलक्षण फलों के वृक्ष थे। उसमें ऐसे वृक्ष नहीं थे जैसे गाँव की रुख में थे अर्थात् बटग और जंगली नाशपातियों और पीले रंग के सेबों और सुनहरे अखरोटों के वृक्ष या चीड़, देवदार और व्यापार के विशाल वृक्ष। वे तो बहुत अद्भुत-से, छोटे-छोटे वृक्ष थे जिनकी डालियाँ रंग-बिरंगे फलों के बोझ से झुकी हुई थीं और घास के टुकड़ों में बड़े मनोहर फूलों की क्यारियाँ थीं। जब कभी बूढ़ा शिकारी अब्दुल्ला आग तापते हुए अपनी नीली-नीली आँखें घुमाकर राजा साहब के शहर की सजधज का वर्णन करता तो शिकारियों के हृदय में विस्मय और उत्सुकता की एक लहर दौड़ जाती और उनकी फैली-फैली पुतलियों में आग की लपटें नाचने लगतीं क्योंकि अब्दुल्ला के अतिरिक्त कोई ऐसा न था जिसने वह शहर देखा हो। शिकारियों को राजा साहब के शहर से इधर वाले कस्बे में जाने का तो साल में दो-चार बार अवसर मिलता था–नमक लाने

के लिए; गुड़ लाने के लिए; चाय, साबुन, कपड़ा लाने के लिए। किन्तु शहर जाने की उन्हें अब तक आवश्यकता न पड़ी थी, और वैसे भी वे शहर जाते हुए घबराते थे। कितने अपरिचित-से थे उस कस्बे के लोग! ऐसे देखते थे जैसे अभी झपट्टा मारकर कुछ छीन लेंगे। वे दृष्टियाँ, वे चेहरे, पहाड़ी शिकारियों को अच्छे न लगते थे।

जहाँ यह रुख समाप्त होती थी और जहाँ देवदार के अन्तिम वृक्ष आकाश की ओर देखते हुए रुक जाते थे, वहाँ पर राजा साहब के वनविभाग के आदेश से देवदार के छोटे-छोटे पौधे उगाए गए थे। इन पौधों की रखवाली भी इन्हीं शिकारियों के ज़िम्मे थी कि वे इन देवदार के नन्हे-नन्हे पौधों को पशुओं के प्रहार से बचाएँ। इन पौधों के ऊपर चट्टानों की उस श्रेणी का आरम्भ होता था जो ऊपर चोटी तक जाती थी। इस श्रेणी के आरम्भ होते ही मार्ग में वह चश्मा आता था, जो एक अन्धेरी खोह में था और जिसका जल इतना शीतल था कि मनुष्य कठिनता से इसके दो घूँट पी सकता था। इस चश्मे से ऊपर चोटी से गाँव तक जाने के लिए शिकारियों ने पत्थरों को काटकर सीढ़ियाँ बनाई थीं जो बल खाती हुई चट्टानों में घूमती हुई दस हज़ार फुट गहरी खाइयों से बचती हुई गाँव में चली गई थीं जहाँ एक घर के ऊपर दूसरा घर, इसके ऊपर तीसरा घर और तीसरे के ऊपर चौथा घर था। वे एक-दूसरे को सम्भाले हुए, एक-दूसरे को ऊँचा करते हुए अन्तिम घर से जा मिलते थे जो अब्दुल्ला का घर था जिसके ऊपर राजा साहब की पताका लहराती थी।

यहाँ खड़े होकर दृष्टि घुमाने से चारों दिशाओं में पर्वत-श्रेणियाँ गिरती-पड़ती दृष्टिगोचर होती थीं। उत्तर में कुल्ला पर्वत जहाँ सदैव मेघ मँडराते रहते हैं। पूर्व में हिरनी की गगनचुम्बी चोटी जो बादलों का वृक्ष भेदकर ऊपर सूर्य की स्वर्णमयी गेंद से खेलती रहती है। दक्षिण में आफराज़ का पहाड़ जो काले-काले वनों से ढका हुआ है, और पश्चिम में गुरसमन्द का नग्न पहाड़ जिसके परे कस्बे की घाटी है और जिससे परे एक और ऊँचा पर्वत है जिसकी बर्फ ग्रीष्मकाल में भी नहीं पिघलती और जिसके परे वह छोटी-सी सुन्दर घाटी है जहाँ राजा साहब रहते है, और जहाँ शिकारियों में से अब्दुल्ला के अतिरिक्त कोई नहीं गया।

परन्तु इस समय अब्दुल्ला के घर कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। चारों ओर घनी शीतल धुन्ध फैली हुई थी जो आकाश से कट-कटकर बर्फ के गोले बनकर निस्तब्ध पृथ्वी पर गिरती जाती है। इस समय न पहाड़ दिखाई देते थे न नीचे के घर, न रुख, न नाला। पृथ्वी और आकाश पर भी एक धुन्ध छाई हुई थी और बर्फ के हल्के-हल्के कोमल गोले गिर रहे थे। चारों ओर पूर्ण निस्तब्धता छाई थी, और कोई शब्द सुनाई न देता था और कहीं से फिर सहसा तूफान का थपेड़ा। 'हुआऊ-ऊ' करता हुआ आता और बर्फ के गोले अन्धाधुन्ध एक दिशा में गिरने लगते और कभी वायुमण्डल में भँवर बनाकर नृत्य करने लगते और कभी एक दिशा में जाते और कभी दूसरी दिशा में, और कभी विभिन्न दिशाओं से आते-जाते एक दूसरे से गले मिलने लगते। और तूफान का ऑरकेस्ट्रा ऊँचा हो जाता और सहसा आकर झन-से रुक जाता। और तूफानी थपेड़ा

'हुआऊ-ऊ' का शोर मचाता दूर कहीं पर्वत-श्रेणी पर चला जाता और यहाँ बर्फ के गोले पुन: निरन्तर गिरते रहते और बर्फ ऐसे जमने लगती जैसे कोई कश्मीरी युवती धरती के करघे पर श्वेत गद्दर गलीचा बुन रही हो।

अब्दुल्ला का छोटा बेटा अज़ीज़ द्वार खोलकर छप्पर से आगे ढलकती हुई बर्फ को नीचे गिराने जा रहा था कि उसे सामने धुन्ध में नूरनशाँ का चेहरा दिखाई दिया, जैसे झील की लहरों पर कमल का नव-विकसित फूल घूमता हुआ सामने आ जाए और अज़ीज़ को देखकर सोल्लास खिल उठे। अज़ीज़ उसे देखकर बर्फ गिराए बिना द्वार के भीतर आ गया और बकरियों को एक कोने में बाँधने लगा। नूरनशाँ ने द्वार पर आकर कहा, ''मैं चश्मे तक जा रही हूँ। मेरे साथ कौन चलेगा?''

अज़ीज़ की बहन चश्मे से पानी लेकर आई थी। अज़ीज़ का बड़ा भाई अमीन किसी काम में व्यस्त था। अज़ीज़ की माँ रोटी पका रही थी। बूढ़ा अब्दुल्ला आग ताप रहा था। अज़ीज़ बकरियाँ बाँधने में लगा रहा। सब लोग चुपचाप काम करते रहे, मानो किसी ने नूरनशाँ को सुना ही नहीं। अज़ीज़ ने केवल एक क्षण के लिए प्रतीक्षा की। दूसरे क्षण वह द्वार पर था।

अज़ीज़ के बड़े भाई ने कहा, ''बकरियाँ तो बाँधते जाओ।''

अज़ीज़ ने द्वार पर लटकते हुए बोरिए को घसीटकर अपने सिर पर एक तिकोनी टोपी बनाकर ओढ़ लिया और नूरनशाँ के साथ सीढ़ियाँ उतरने लगा।

अब्दुल्ला उठकर द्वार पर आ गया। वहाँ से उसने एक क्षण के लिए अज़ीज़ और नूरनशाँ की पीठ देखी–केवल एक क्षण के लिए। दूसरे क्षण वे एक छलावे की भाँति धुन्ध में विलीन हो गए। अब्दुल्ला दृष्टि झुकाकर पत्थर की सीढ़ियों पर अज़ीज़ और नूरनशाँ के पग देखने लगा जो बर्फ में बड़ी सुन्दरता से अंकित थे–अज़ीज़ के मरदाने पाँव, नूर के छोटे-छोटे ज़नाने पाँव। फिर दोनों पग विलीन होते गए। बर्फ गिरती गई, पग मिटते रहे, मिट गए। अब्दुल्ला ने एक झुरझुरी-सी ली और अन्दर आकर पुन: आग तापने लगा।

अज़ीज़ की माँ मकई की रोटी सेंकती हुई बोली, ''आज झक्कड़ तेज़ है।''

अमीन, अज़ीज़ का बड़ा भाई, हँसा।

अज़ीज़ की बहन विस्मित होकर उसकी ओर ताकने लगी। घर में बड़ा भाई किसी को भी प्रिय न था। सब अज़ीज़ को चाहते थे।

बहन की निगाहें देखकर अमीन लज्जित-सा हो गया। फिर उसने अपनी बहन से बड़े कटु स्वर में कहा, ''उठकर बकरियाँ तो बाँध दे। इस तूफान में एक बकरोटा भी बाहर निकल गया तो अज़ीज़ का बच्चा ही उसे ढूँढ़कर लाएगा। मैं तो बाहर जाऊँगा नहीं।''

सहसा तूफान का एक थपेड़ा बड़े वेग से अन्दर आया, उसने सारे घर में चक्कर लगाया, आले में रखा हुआ दीया नीचे गिराया, दो अलग-अलग रखी हुई मटकियों को आपस में टकराया, 'चूल्हे में धुआँ ही धुआँ किया और फिर प्रस्थान करते हुए द्वार के पट बड़े वेग से बन्द

करता हुआ 'हुआऊ-ऊ' करता हुआ भाग गया। उसका विलीन होता हुआ स्वर सुदूर पर्वत-श्रेणियों की ओर जाता हुआ प्रतीत हुआ।

अब्दुल्ला ने गरजकर कहा, ''यह द्वार किसने खोला था?''

अज़ीज़ का भाई बोला, ''अज़ीज ने।''

''तो फिर तूने बन्द क्यों नहीं किया?'' अब्दुल्ला ने और गरजकर कहा, ''हज़ार बार कहा है दरवाज़ा बन्द रखा करो। यह आफराज के पहाड़ों से आया हुआ तूफान है। द्वार बन्द नहीं रखोगे तो एक दिन छप्पर तक उखाड़कर ले जाएगा। अब इस तूफान में वह हरामज़ादी पानी भरने गई है। मैं पूछता हूँ इस बर्फीले झक्कड़ में प्यास किसे लगती होगी?''

अज़ीज़ की माँ कोमल स्वर में बोली, ''उसके घर में पानी न होगा।'' नूरनशाँ उसे बहुत पसन्द थी।

''मैं सब जानता हूँ, ये सब बहाने हैं।''

अज़ीज़ की माँ ने एक मधुर उसास भरकर कहा, ''हाँ, अब इन दोनों का निकाह कर देना चाहिए।''

अज़ीज़ की अविवाहित बहन के बड़े-बड़े नेत्रों की पुतलियाँ फैलती गईं और वह देर तक चूल्हे में जलते हुए लाल अँगारों को देखती रही अज़ीज़ के बड़े भाई ने क्रोध से दाँत पीस लिए। वह भी अविवाहित था और नूरनशाँ से प्रेम करता था जो अज़ीज़ से प्रेम करती थी जो उसका छोटा भाई था। वह द्वार पर जाकर खड़ा हो गया जहाँ केवल धुन्ध ही धुन्ध दिखाई पड़ती थी।

उस अन्धे तूफान की धुन्ध में नूरनशाँ और अज़ीज के पग सीढ़ियाँ उतरते जा रहे थे। यह संकटपूर्ण फैलता हुआ पथरीला रास्ता, जो बल खाता हुआ नीचे जा रहा था, कई भयानक मोड़ों और खाइयों के भयावने किनारों से गुज़रता था। इस समय धुन्ध और बर्फ में चलना और भी कठिन हो रहा था। हर पग फूँक-फूँककर रखना पड़ता था। बर्फ के गोले कभी तो आँखों में घुस जाते, कभी नाक में, कभी मुँह में। ऐसी स्थिति में बात क्या हो सकती है? फिर भी नूर और अज़ीज़ अपने शरीरों के स्पर्श की मूक भाषा में बातें किए जा रहे थे। यहाँ वे अलग-अलग चल रहे थे। यहाँ इस मोड़ पर अज़ीज़ ने नूर का हाथ थाम लिया। इस स्थान पर नूर ठहर गई और उसने अज़ीज़ के कन्धे पर अपना हाथ रख दिया। यहाँ पर वह गहरी खाई थी जहाँ अफ़ज़ल शिकारी गिरकर मर गया था। नूर ने सिहरकर साँस अन्दर खींच ली और अज़ीज़ ने दृढ़ता से अपना हाथ उसकी कमर में डाल दिया और उसे घुमाकर नीचे ले गया। यह मार्ग सुगम था। यहाँ दोनों अलग-अलग होकर चलने लगे और नूर एक नाचती हुई हिरनी की भाँति चौकड़ियाँ भरती हुई तीव्रता से नीचे उतर गई। फिर आगे बढ़कर रुक गई, अज़ीज़ ने हौले से उसे थाम लिया। उँगलियों के स्पर्श से बर्फ में दबी हुई, निद्रित मधुर भावनाएँ जागृत हो उठीं और एक लौ की भाँति भड़क उठीं जैसे चकमक के पत्थरों से चिंगारी प्रस्फुटित होती हो। नूर ने अपना हाथ अलग कर लिया। अब फिर बर्फ उसी प्रकार गिर रही थी, उसी प्रकार चलते-चलते वे चट्टानों की उस

खोह में पहुँच गए जहाँ चश्मे का उद्गम स्थान था। यहाँ पहुँचकर नूर ने एक लम्बी साँस भरकर घड़ा सिर से उतारकर चश्मे के किनारे रख दिया। अज़ीज़ ने कहा, ''ऐसे तूफान में आने की क्या आवश्यकता थी?''

नूरनशाँ ने कहा, 'दो दिन से तुम्हें देखा नहीं था।'' नूरनशाँ के नेत्रों में शिकायत थी। उसके अधरों के कोने में कम्पन था।

अज़ीज़ का स्वर अत्यन्त कोमल हो गया। वह बोला, ''तुम्हारे बालों में बर्फ है।''

नूर के अस्त-व्यस्त केशों में बर्फ थी, उसके नाज़ुक ठिठुरते हुए कन्धों पर बर्फ थी। उसकी ओढ़नी की सलवटों में बर्फ थी और उसके उज्ज्वल श्वेत मुख पर बर्फ थी। अज़ीज़ ने उसके केशों से बर्फ गिराई, उसके नाज़ुक कन्धों से बर्फ गिराई, उसकी ओढ़नी की सलवटों से बर्फ गिराई और फिर नूर एक कँपकँपाती हुई फ़ाख़्ता की भाँति उसकी बलिष्ठ भुजाओं में आ गई और उसके कन्धे से लगकर बड़ी क्षीण वाणी में कहने लगी, ''अमीन कहता है, अगर मैंने तुमसे शादी की तो वह हम दोनों को गोली मार देगा।''

अज़ीज़ की भुजाएँ नूर के कन्धों पर कस गई। उसने अत्यन्त विश्वास और निश्चिन्तता से कहा, ''तुम घबराओ नहीं। गोली मारना मैं भी जानता हूँ।''

अज़ीज़ ने इतना कहकर नूरनशाँ को चूम लिया–एक बार दो बार। तीसरी बार जब वह उसे चूम रहा था तो सहसा उसके कानों में किसी के चहकने का शब्द आया। दोनों घबराकर अलग-अलग हो गए।

अब फिर निस्तब्धता थी।

''कौन था?''

कोई नहीं था। चारों ओर धुन्ध थी और निस्तब्धता थी और सन्नाटा था और वे दोनों अकेले थे।

''तुमने आवाज़ सुनी?'' अज़ीज़ ने पूछा।

''हाँ।'' नूर ने काँपते हुए कहा।

''कोई नहीं था।'' अज़ीज़ ने एक दीर्घ विराम के पश्चात् कहा, ''हमारा भ्रम था।'' और इतना कहकर उसने नूरनशाँ को फिर अपनी भुजाओं में ले लिया। सहसा फिर कोई चहका।

अरे!

एक छोटी-सी ठिठुरती हुई गुलदुम अपने पंख फड़फड़ाती हुई नूरनशाँ के सिर पर आकर बैठ गई और नूरनशाँ घबराकर और चीत्कार करती हुई अज़ीज़ से अलग हो गई। अज़ीज ने उसे थाम लिया।

''घबराओ नहीं, यह तो गुलदुम है।'' अज़ीज ने गुलदुम की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा।

गुलदुम फिर अपने कोमल कण्ठ से चहकी। वह नूरनशाँ के सिर से उड़ी नहीं, वहीं बैठी

रही। अज़ीज़ ने उसे अपने हाथों में ले लिया। गुलदुम उसके हाथों में आ गई।

नूरनशाँ बोली, ''हाय! कितनी छोटी-सी गुलदुम है। कितनी प्यारी! इस मौसम में कहाँ से आ गई यहाँ?''

गुलदुम ने कहा, ''चूँ-चूँ चिर-चिर चूँ-चूँ!''

''गाती है?'' नूरनशाँ ने हँसकर कहा।

''गाती नहीं है, रोती है।'' अज़ीज़ ने कहा, ''बेचारी को भूख लगी है।''

नूरनशाँ ने कहा, ''मैं इसे घर ले जाऊँगी। लो इसे पकड़ लो, मैं पानी भर लूँ।''

नूरनशाँ ने पानी भरकर घड़ा सिर पर रख लिया। अज़ीज़ ने अपनी मुट्ठी में गुलदुम को लिया और वे दोनों लौट गए। गुलदुम पाने की उसे इतनी प्रसन्नता थी कि नूर बिना थके सारी चढ़ाई चढ़ गई, और कहीं पर साँस लेने के लिए भी नहीं रुकी। अपने घर में पहुँचकर उसने घड़ा उतारकर धरती पर रखा और फिर तुरन्त मुड़कर अज़ीज़ से कहने लगी, ''लाओ हमारी गुलदुम।''

''तुम्हारी कैसे हो गई? वाह, गुलदुम तो मेरी है।'' अज़ीज़ ने कहा।

''नहीं, नहीं,'' नूरनशाँ ने ठिनकते हुए कहा, ''गुलदुम हमें दे दो, गुलदुम हमारी है।''

''नहीं, हमारी है।''

नूरनशाँ ने कहा, ''गुलदुम हमारी है, क्योंकि यह पहले हमारे सिर पर आकर बैठी थी।''

अज़ीज ने कहा, ''इसे रास्ते-भर तो उठाकर मैं लाया हूँ। अपनी मुट्ठी में गरम रखा है इसे, नहीं तो रास्ते ही में मर गई होती। मैंने इसकी जान बचाई है, गुलदुम मेरी है।''

''नहीं, मेरी है।'' गुलदुम पर झपटते हुए नूरनशाँ बोली।

''नूरनशाँ की माँ ने कहा, ''ऐसे फैसला नहीं होगा। तुम गुलदुम को आले में रख दो, फिर गुलदुम को बुलाओ। गुलदुम जिसके पास चली जाएगी उसी की है।''

अज़ीज़ ने गुलदुम आले में रख दी।

नूरनशाँ ने कहा, ''पहले मैं बुलाऊँगी इसे।''

''बहुत अच्छा! तुम ही बुलाओ।''

नूरनशाँ ने हाथ फैलाकर अत्यन्त मधुर कण्ठ से कहा, ''आ जाओ, ची-ची-ची मेरी नन्ही-मुन्नी गुलदुम! आ जाओ, ची-ची-ची।''

गुलदुम आले में मौन बैठी रही।

जब नूरनशाँ सारे यत्न करके परास्त हो गई तो धीरे-से बोली, ''अब तुम ही बुला लो इस कलमुँही को।''

अज़ीज़ ने सीटी बजाई। गुलदुम फुर्र-से उड़कर उसके कन्धे पर आ बैठी। अज़ीज़ हँसने लगा।

नूरनशाँ के नेत्रों में अश्रु-कण उभर आए। बोली, ''ले जाओ इसे, और फिर कभी मुझे अपना मुँह न दिखाना। अभी ले जाओ इसे, लाल-लाल दुमसड़ी को।

अज़ीज़ ने हँसते-हँसते गुलदुम नूरनशाँ के सिर पर रख दी। बोला, ''माल मेरा है, पर रहेगा तुम्हारे पास, क्योंकि मेरे घर की मालकिन तुम होने वाली हो।'' नूरनशाँ शरमा गई, अज़ीज़ हँसते हुए बाहर निकल गया।

अज़ीज़ के साथ अब कोई न था। इसलिए अब वह सुगमता से चढ़ाई चढ़ता जा रहा था। चढ़ाई चढ़ना वैसे भी उतराई से आसान होता है। वह निश्चिन्तता से सीटी बजाता, इधर-उधर देखता चला जा रहा था। अगले मोड़ पर गहरी खाई का किनारा था जहाँ पाँव तनिक भी इधर-उधर हो जाए तो मनुष्य आठ हज़ार फुट गहरे गड्ड में गिर जाए। मोड़ पर पहुँचकर अज़ीज़ ने अपने पाँव सम्भाल लिए।

आगे बढ़ा तो रुक गया। उसके ऊपर धुन्ध में लिपटा हुआ एक आदमी खड़ा था!

''कौन है?'' अज़ीज़ ने ललकारकर पूछा।

वह आदमी एक पग नीचे उतरा। अज़ीज़ ने देखा वह उसका बड़ा भाई अमीन था।

''क्या...'' परन्तु अज़ीज़ अपना वाक्य पूरा न कर सका।

अमीन ने उछलकर अज़ीज़ पर आक्रमण कर दिया और वे दोनों वहीं चट्टान पर गुँथ गए और बड़ी सावधानी से और अपने शरीर का समस्त बल लगाकर लड़ने लगे।

अमीन शनै: शनै: अज़ीज़ को खाई के किनारे की ओर ले जा रहा था। अज़ीज़ चट्टान से जोंक की भाँति चिमटकर अपनी दोनों भुजाओं की पूरी शक्ति से उसका मार्ग रोके हुए था। दोनों की साँसें धौंकनियों की भाँति चल रही थीं। फिर बर्फ अन्धाधुन्ध गिर रही थी। और वे दोनों अपनी-अपनी जगह पर जमे हुए एक इंच इधर-उधर न होते थे। सहसा अज़ीज़ के पंजे ढीले हो गए। और वह एक-एक इंच करके खाई की ओर घसीटा जाने लगा। एक इंच...दो इंच...तीन इंच... चार इंच! अज़ीज़ के मस्तक पर पसीने की बूँदें झलक आईं। अमीन का चेहरा उसके बिलकुल निकट था और उस समय अज़ीज़ को एक भेड़िए की भाँति गुंर्राता हुआ प्रतीत होता था। सहसा उसकी यह पाशविक मुद्रा देखकर अज़ीज़ की भुजाओं में एक नई शक्ति का संचार हो उठा। उसे अपने पैरों की ओर एक चट्टान के निकले हुए किनारे का सहारा मिल गया। सहारा लेकर अज़ीज़ ने जो बल लगाया तो अमीन वहीं तड़पकर औंधा हो गया। अब अज़ीज़ उसके ऊपर था और अमीन नीचे। इन दोनों के नीचे गहरी खाई थी, एक इंच...दो इंच...चार इंच...छ: इंच... आठ इंच! अब अमीन का सिर और उसकी बाँहें नीचे खाई के गहरे शून्य में काँप रहे थे।

अमीन चीखा, ''मुझे छोड़ दो, मुझे छोड़ दो, खुदा के लिए।''

अज़ीज़ ने फिर जोर लगाया। अमीन अब धड़ तक खाई में लटक गया। अब उसने प्रतिरोध करना बन्द कर दिया। अब वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था, ''मैं तुम्हारा भाई हूँ, अज़ीज! तुम्हारा

सगा भाई, तुम्हारा बड़ा भाई। खुदा के लिए मुझे माफ़ कर दो।''

''सच कहते हो?'' अज़ीज़ ने कठोरता से पूछा, ''फिर कभी नूरनशाँ की ओर बुरी दृष्टि से तो न देखोगे?''

''सच कहता हूँ, नहीं देखूँगा।''

''क़सम खाओ।''

अमीन ने कसम खाई। फिर भी वह देर तक खाई में लटकता रहा। अन्त में अज़ीज ने उसे पीछे खींच लिया। अमीन देर तक बर्फ पर औंधे मुँह पड़ा रहा, लम्बे-लम्बे साँस लेता रहा। फिर अज़ीज़ ने उसे सहारा देकर खड़ा किया और उससे कहा, ''तुम आगे चलो। मैं तुम्हारे पीछे आता हूँ। मगर देखो! यदि तुमने एक बार भी पलटकर देखा या रुके, तो मैं तुमपर आक्रमण कर दूँगा।''

अमीन सीधा घर चला गया। और उसके पीछे-पीछे अज़ीज़ ने घर में प्रवेश किया। अब्दुल्ला उन दोनों की ओर सन्देह भरी दृष्टि से देखकर बोला, ''मैं तुम दोनों को गोली मार दूँगा, हरामज़ादों! मालूम होता है तुम दोनों फिर लड़े हो?''

''नहीं अब्बाजी।'' अज़ीज़ सिर झुकाकर बोला।

दो दिन और दो रात के पश्चात् तूफान थमा। शिकारी देवदार के पौधों को देखने गए। देवदार के बहुत-से पौधे बर्फ से ढक गए थे। कइयों की केवल फुनगियाँ दिखाई देती थीं। जो पौधे बड़े थे उनकी टहनियों और हरे झुमरों पर चाँदी ऐसी बर्फ की नाज़ुक-नाज़ुक कोरें और गोटें टंकी हुई थीं। वृक्षों ने नए वस्त्र पहने थे और अब वे सूर्य के प्रकाश में सीधे खड़े, गर्व से सिर ऊँचा किए श्वेत उजले फलदार वस्त्र पहने प्रथम हिमपात के उन्मादपूर्ण उल्लास में प्रसन्नता से चमक रहे थे।

परन्तु देवदार की पनीरी को बहुत क्षति पहुँची थी। जो पौधे गिर गए थे उनका तो खैर अब क्या हो सकता था, परन्तु जो पौधे बर्फ में दबे थे, गिरे न थे और वे पौधे जिनके गले-गले तक बर्फ आ गई थी, उन्हें बचाना तो आवश्यक था। इसलिए दिन-भर शिकारी और उनके परिवार के लोग पौधों के चारों ओर से बर्फ हटाते रहे। छोटे-छोटे बालक बर्फ की मूर्तियाँ बनाते रहे। वे पहले बर्फ का एक गोला बनाते और फिर उसे बर्फ पर चलाना आरम्भ करते। जैसे-जैसे बर्फ का गोला चलता जाता वह रास्ते की बर्फ पकड़ता जाता और बड़ा होता जाता और उसका चलना कठिन होता जाता। फिर एक समय ऐसा आता कि सब लड़के-बाले मिलकर भी उसे आगे न धकेल सकते। तब वे इस गोले का सिर, मुँह, कान और हाथ-पाँव बनाते। उसके सिर पर देवदार की हरी झालरों वाला पत्तियों का ताज रखते। आँखों के स्थान पर दो बड़े-बड़े काले कंकड़ रख देते और होंठों में सिगरेट के तौर पर एक छोटी-सी टहनी का टुकड़ा दबा देते।

बालकों ने एक ऐसा ही नया गोला बनाया। जब वह बन गया तो सबने ताली बजाई और एक-दूसरे के हाथ में हाथ दिए उसके चारों ओर नाचने लगे-''आहा हा, राजा साहब आ गए,

राजा साहब आ गए!''

बहुत समय बीता, कोई दो या तीन वर्ष हुए राजा साहब यहाँ शिकार को आए थे। उस समय लड़कों ने उनके मुँह में एक सफेद रंग की नलकी जैसी चीज़ देखी थी, जिससे धुआँ निकलता था। हुक्के से सब लोग परिचित थे परन्तु सिगरेट लड़कों ने अपने गाँव में प्रथम बार देखा था। वे लोग अचम्भे से उसे ताकते रह गए थे।

थोड़ी देर नाचने के पश्चात् बच्चे दो टोलियों में विभाजित होने के लिए पुगने लगे। वे तीन-तीन की टोलियों में खड़े होकर एक-दूसरे के हाथ में हाथ देकर हाथों को झुलाते और फिर अपने हाथों को अलग करते हुए अपनी एक थेली दूसरी हथेली पर रख देते। वायुमण्डल में एक साथ ताली बजने की-सी आवाज़ गूँजती और फिर वह लड़का या लड़की जिसकी सीधी हथेली पर उलटा हाथ रखा होता या सीधी हथेली पर सीधा हाथ रखा होता, परन्तु इस प्रकार रखा होता कि दूसरे लड़कों के हाथ उसी प्रकार न रखे होते, वह पुग जाता और राजा साहब की मूर्ति अर्थात् बर्फ के गोले से कोई डेढ़ सौ गज़ परे खड़ा हो जाता और उसपर मारने के लिए बर्फ के छोटे-छोटे गोले बनाने लगता।

जब सब बालक दो टोलियों में विभाजित हो गए, एक राजा साहब के रक्षकों की और दूसरी उनके आक्रमणकारियों की, तो बर्फ के बहुत-से गोले तैयार किए गए। फिर यह चुनने के लिए कि कौन-से तीन लड़के मूर्ति के दाएं, बाएं और सम्मुख खड़े हों, अक्कड़-बक्कड़ की गिनती गिनी गई। अक्कड़ शब्द से पहला लड़का गिना जाता। अन्तिम शब्द जिस लड़के पर आता, उसे मूर्ति के सामने खड़ा होना पड़ता। इस प्रकार तीन बार किया जाता क्योंकि तीन लड़कों का निर्वाचन करना होता था। सब लड़के एक पंक्ति में खड़े थे। दो लड़के चुन लिए गए थे। वे मूर्ति के दाएं-बाएं जाकर खड़े हो गए और उन्होंने बर्फ के गोले अपने हाथों में उठा लिए। तीसरे लड़के के सामने आते ही बर्फ के गोलों का मुकाबला होता था। एक लड़के ने लड़कों को एक-एक करके उँगली से छूते हुए कहना आरम्भ किया :

''अक्कड़, बक्कड़, भम्बा भो
अस्सी, नब्बे, पूरे सौ
सौ कलूटा
तीतर मोटा
चल मदारी
पैसा खोटा!''

'खोटा।' शब्द उच्चरित होते ही तीसरा लड़का उछलकर मूर्ति के सामने आ गया और दोनों ओर से गोलाबारी आरम्भ हुई। बहुत देर तक गोलाबारी होती रही, परन्तु अन्त में विजय राजा साहब के रक्षकों की हुई। मूर्ति पर केवल तीन गोले लगे थे, परन्तु मूर्ति उसी प्रकार खड़ी रही, केवल उसका ताज गिर गया था। अब बालक इस खेल को छोड़कर बर्फ का गढ़ बनाने में

लग गए, और बच्चियाँ बर्फ के नन्हे-नन्हे घरौंदे बनाने लगीं और बर्फ की मटकियाँ सिर पर रखे चश्मे से पानी लाने लगीं। और बर्फ का चूल्हा बनाकर उस पर बर्फ का तवा रखकर बर्फ की रोटियाँ बनाने लगीं।

और जब सूर्य अस्ताचल में चला गया, तो शिकारियों ने अपना काम आधे से अधिक समाप्त कर लिया। पौधों के किनारे-किनारे बर्फ की एक ऊँची दीवार खड़ी हो गई थी। अब वे दूसरे दिन काम करने के लिए विदा हुए। रात्रि की चौकीदारी के लिए वे अज़ीज़ को नियुक्त कर गए। अज़ीज़ रात को खाना खाकर और राइफल हाथ में लेकर और कारतूस जेब में डालकर पौधों के बीच बनी हुई मचान की ओर चला गया। वह रात अत्यन्त सुहावनी थी। प्रथम हिमपात की रात में यदि चाँदनी खिले तो अति सुन्दर होती है। ढलान की सीढ़ियों पर बर्फ चमक रही थी और कहीं-कहीं उस चमकती हुई बर्फ पर घरों और चट्टानों की लम्बी-लम्बी छाया पड़ रही थी। दूर तक चारों ओर पर्वतों की निस्सीम श्रेणियों पर एक अद्भुत नीलिमापूर्ण धवलता फैली हुई थी। हवा में जेंगन की हल्की-सी सुगन्ध थी और तारे बर्फ के गोले थे जो रात की ओढ़नी में आकाश की झील से छलककर गिर पड़े थे और झम-झम चमक रहे थे और अज़ीज़ को इतने निकट लगते थे जैसे वह उन्हें अपने हाथ से छू सकता है। अज़ीज़ को नूरनशाँ की ओढ़नी का ध्यान हो आया। वह मुस्करा पड़ा। उसने अपनी फरगल को भली प्रकार अपने चारों ओर लपेट लिया और चट्टान की सीढ़ियाँ चढ़ता गया और नूरनशाँ के घर के समीप पहुँचकर उसके पग सहसा रुक गए। घर में प्रकाश न था। शायद सब सो गए थे। अज़ीज़ देर तक वहाँ खड़ा रहा और फिर वह एक चट्टान के पीछे छिप गया और दबकर भेड़िए की बोली बोलने लगा। वह इतने पास से बोल रहा था, परन्तु इस प्रकार बोल रहा था कि उसकी आवाज़ निकट से नहीं वरन् दूर के जंगल से आती प्रतीत होती थी जैसे किसी हिमाच्छादित भट के किनारे कोई एकाकी विरही भेड़िया अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा में खड़ा चन्द्रमा की ओर देख रहा हो। परन्तु नूरनशाँ के घर का द्वार नहीं खुला और कोई बाहर नहीं आया। अज़ीज़ थोड़ी देर प्रतीक्षा करके वहाँ से चल दिया और फिर चश्मे के पास से गुज़रता हुआ नीचे पौधों के ज़खीरे के पास पहुँच गया और मचान पर चढ़कर बैठ गया। उसने राइफल में कारतूस भरे, मचान में बिछे हुए घास के बिछौने को ठीक किया और कम्बल ओढ़कर बैठ गया। उसे ज्ञात था कि उधर किसी जंगली जानवर का आना असम्भव-सा ही है। आरम्भ में जंगली जानवरों ने पौधों को अवश्य ही क्षति पहुँचाई थी, परन्तु जब कुछ जानवर बन्दूक की गोलियों का शिकार हुए तो उन्होंने इधर आना-जाना बहुत कम कर दिया। फिर भी कभी-कभी कोई भूला-भटका जन्तु इधर आ निकलता था। फिर भी पौधों की रखवाली तो आवश्यक थी।

जब अज़ीज़ को नींद आने लगी तो वह हौले-हौले गाने लगा। हौले-हौले गाते-गाते वह ज़ोर से गाने लगा ताकि जंगल के समस्त तारे और पशु-पक्षी और बर्फ के समस्त कण और आकाश के समस्त तारे और कबीले के समस्त प्राणी उसके विरह-ग्रस्त प्रेम का गीत सुन लें।

और जब वह गाते-गाते थक गया तो वंजली बजाने लगा और देर तक उसे बजाता रहा। फिर अन्त में जब उसे वंजली की स्वर-लहरी नीरस प्रतीत होने लगी तो वह सहसा और उदास हो गया और मुँह से ज़ोर-ज़ोर से साँस निकालने लगा।

साँस मुँह से निकलते ही वायु में धुँआ बन जाता और ऐसे अधर में लटक जाता जैसे कोई जादूगर सफेद रूमाल को हवा में अधर में लटका दे। फिर यह धुआँ बहुत ही धीरे-धीरे हवा में घुल जाता था। वह देर तक इसी तरह करता रहा। सहसा उसने मचान के नीचे सरसराहट का अनुभव किया। उसने वहीं ऊँची मचान से छलाँग लगा दी और उसे अपनी भुजाओं में ज़ोर से दबोच लिया और उसके बालों, उसके कन्धों, उसके कपोलों, उसकी भवों और उसके अधरों को चूमने लगा। नूरनशाँ बेसुध-सी हो गई, उसकी आँखें मुँदने लगीं और उसका शरीर बर्फ के गाले की भाँति हल्का हो गया। उसने साँस रोककर बड़ी कठिनता से अपने-आपको अज़ीज़ से अलग किया और उसकी ओर देखकर बड़े प्यार से और बड़ी शिकायत से कहने लगी :

''हाय, तुम कितने बुरे हो। मैं तो तुमसे बातें करने आई थी और तुम...'' वह रूठकर उससे अलग खड़ी हो गई और अज़ीज़ ने फिर दोनों हाथ उसकी कमर में डाल दिए और उसे बहुत हौले-से अपनी ओर खींच लिया और बहुत लज्जित होकर अपनी भूल स्वीकार की। और नूरनशाँ हँस पड़ी और उसने अपनी आँखें उसकी आँखों में डालकर अपनी छोटी उँगली के नाखून से अज़ीज़ की ठोड़ी को छू लिया और फिर आँखें झुकाकर कन्धे से लग गई और वे दोनों देर तक उसी प्रकार खड़े-खड़े बातें करते रहे। सामने ढलवान पर एक सुन्दर सींगों वाला हिरन आ खड़ा हआ और उन्होंने उसे नहीं देखा और हिरन अपने सींग हिलाता हुआ वायु को सूँघता रहा। और फिर वह चीड़ के एक वृक्ष से लगकर अपनी खाल सहलाने लगा। फिर ब्यार के वृक्षों के तनों में से गुज़रती हुई एक सुन्दर हिरनी आई और छायाओं और चाँदनी की झीलों और बर्फ के गद्दर गलीचों पर से गुज़रती हुई, झिझकती हुई, लजाती हुई देवदार के एक छोटे-से पौधे के पास खड़ी हो गई और... इन तीनों ने उसे नहीं देखा और फिर बारहसिंगे ने वायु को सूँघा और गर्वपूर्ण, अद्भुत ठाठ से टहलता-टहलता हिरनी के पास चला गया और अपनी गर्दन उसकी मखमल ऐसी गर्दन से सहलाने लगा और फिर वे दोनों हिरन बिना किसी आहट के चौंक पड़े और चौंकड़ियाँ भरते हुए नीचे जंगल में चले गए। उस समय अज़ीज़ और नूरनशाँ ने उन्हें देखा और नूरनशाँ ने मीठी आह भरकर कहा, ''हिरनों का जोड़ा था।'' और अज़ीज़ ने प्यार से उसकी नाक सहला दी। फिर उसने ज़ोर से साँस भरकर उसे बाहर निकाला और एक श्वेत धुन्ध हवा में तैर उठी। इसपर नूरनशाँ ने ज़ोर लगाकर अपनी साँस बाहर निकाली जो अज़ीज़ की साँस से कुछ आगे निकलकर हवा में जम गई। इस प्रकार थोड़े समय तक वे हवा में साँसों के रूमाल उड़ाते रहे और एक-दूसरे से होड़ लगाते रहे। सहसा कहीं से एक गोली ठाँय से चली और उनके समीप बर्फ की मूर्ति को भेदती हुई निकल गई। अज़ीज़ तुरन्त पृथ्वी पर गिर गया और उसने झटके से नूरनशाँ को भी नीचे गिरा लिया और वे दोनों बर्फ की मूर्ति के पीछे दुबक गए।...

दूसरी गोली चली और बर्फ की मूर्ति का सिर उड़ गया। अज़ीज़ ने नूरनशाँ से कहा–"तुम दुबककर ढलवान की ओर जाओ। मैं मचान पर चढ़ने का प्रयत्न करता हूँ, मेरी राइफल ऊपर है।" वह भूमि पर घिसट-घिसटकर मचान के निकट पहुँच गया जो वृक्षों की ओट में थी और मचान पर चढ़कर अपनी राइफल लेकर नीचे उतरा। कई क्षण बीत गए परन्तु फिर कोई गोली नहीं चली। अज़ीज़ ने गोली आने की दिशा का अनुमान लगाकर चट्टानों की ओर गोली चलाई। परन्तु कोई उत्तर नहीं आया। अज़ीज़ ने चिल्लाकर कहा–"गोली चलाने वाले! तुझमें साहस है तो सामने आ जा। देख मैं यहाँ खड़ा हूँ। सामने आकर मुकाबला कर ले।" और अज़ीज़ यह कहते ही बर्फ पर सीधा खड़ा हो गया। अज़ीज़ ने चट्टानों की ओट से एक परछाई को भागते हुए देखा। परन्तु सामने कोई नहीं आया, क्योंकि सम्मुख खड़ा होकर अज़ीज़ का सामना करना अपनी मौत को निमन्त्रण देना था।

गुलदुम को आए दस दिन ही बीते थे कि अज़ीज़ और नूरनशाँ का विवाह हो गया और गाँववालों ने नूरनशाँ के घर के नीचे, जिधर से चश्मे को रास्ता जाता था, एक घर बनाया–उन दोनों के निवास के लिए। गीली मिट्टी को दो बड़े तख्तों पर थोपकर दीवार बनाई गई और नीचे रुख से सन्थे की झाड़ियाँ काट-काटकर चीड़ की बल्लियों पर छत बनाई गई और उसके ऊपर लाल चट्टानों की बजरी बिछाई गई और घर को अन्दर से खड़िया मिट्टी से पोत दिया गया। और फिर अज़ीज़ की माँ ने चूल्हा बनाया और अपने हाथ से नए घर में पीली मकई की सुनहरी रोटियाँ मक्खन में गूँधकर वर-वधू को खिलाईं। नूरनशाँ की माँ ने आले में दीया जलाकर रखा और नए घर के द्वार पर जंगली अगर के सुगन्धित पत्तों के हार लटकाए और वर-वधू की बलाएं लेती हुई वहाँ से विदा हुई। अब घर में अज़ीज़ और नूरनशाँ अकेले थे। दूसरे आले में गुलदुम बैठी थी। घर का द्वार खुला था, परन्तु उन्हें पता था कि आज रात वे उसे बन्द न कर सकेंगे क्योंकि आसपास की चट्टानों पर और चट्टानों के पीछे चंचल, नटखट लड़कों और लड़कियों की टोलियाँ बैठी हुई हैं। अगर उन्होंनें द्वार बन्द किया तो वे चिल्लाकर आकाश सिर पर उठा लेंगे और शायद द्वार ही तोड़ डालें।

नूरनशाँ गुलदुम को अपने हाथ में लिए द्वार पर आ गई, और अपनी हथेली पर मकई का चूरमा रखकर उसे खिलाने लगी। फिर धीरे-से अज़ीज़ भी वहाँ आ गया और द्वार के दूसरे पट से लगकर खड़ा हो गया। उनके पीछे प्रकाशमय दीपक था और सामने खुला आकाश। द्वार पर जंगली अगर की सुगन्ध थी। नूरनशाँ के नेत्रों में एक नूतन ज्योति विद्यमान थी और जब वह गरदन न्योढ़ाकर अज़ीज़ की ओर निहारती थी तो उसकी चोटी में गूँथी हुई काँच की लड़ियाँ झन-झन करके बजने लगती थीं। सहसा नूरनशाँ अज़ीज़ की ओर देखकर हँस दी और उसने अपने होंठ गुलदुम की चोंच से मिला दिए। सहसा कोई चट्टानों के पीछे से 'चाँद और सिपाही' का गीत गाने लगा। लड़के सिपाही के प्रश्न सुनाने लगे और लड़कियाँ चाँद का उत्तर बताने लगीं और उनके मीठे बोलों व ठप्पों में सारी रात बीत गई और अज़ीज़ और नूरनशाँ को यह भी

पता न चला कि कब तक गीत सुनते रहे और जागते रहे और कब सोए। हाँ, उन्हें इतना ज्ञात था कि प्रात: काल जब वे जागे तो सूर्य की किरणें उनके चेहरों पर पड़ रही थीं और गुलदुम नूरनशाँ के सिर पर अपने पंख फैलाए उसे हल्की चोंचे मार रही थी और गा-गाकर जगा रही थी।

आज उन्हें 'समाधि' पर जाना था। इसलिए नूरनशाँ और अज़ीज़ बहुत शीघ्रता से तैयार हो गए। नूरनशाँ ने बर्तन माँजकर अलग रख दिए और चूल्हे में आग सुलगाकर लकड़ियाँ बाहर निकाल लीं और अंगारों को राख में दबा दिया। गुलदुम को दाना खिलाकर उसे अच्छी तरह प्यार किया और घर का द्वार बन्द करके अपने पति के साथ प्रथम बार 'समाधि' को चली। समाधि रुख के पास एक पुराने चिनार की छाया में पत्थरों के एक चबूतरे पर स्थित थी। यह किस वली-अल्ला की समाधि थी इसका किसी को पता न था। यहाँ कोई मौलवी भी न रहता था। टूटी-फूटी समाधि के झाड़ों पर और चिनार के तने के नीचे उगने वाली छोटी-छोटी झाड़ियों से कपड़े की छोटी पोटलियाँ गरीब, अनजान देहातियों की सैकड़ों इच्छाओं और आकांक्षाओं को अपने वक्ष में लिए लटक रही थीं। वह पोटली अफ़ज़ल की थी जिसका विवाह बेगमाँ से न हो सका। यह पोटली गुलाम अली की थी जिसके आज तक लड़का न हुआ था।

वह पोटली जेराँ की थी जिसके पति को शेर ने घायल कर दिया था, जेराँ का पति स्वस्थ न हुआ था, परन्तु पोटली अभी तक लटक रही थी, और यह पोटली खुलकर ज़मीन पर गिर पड़ी थी और इस प्रकार धूल में मिल गई थी कि कोई कह न सकता था कि यह किसकी पोटली है।

इन पोटलियों में कैसी-कैसी आकाँक्षाएँ थीं, कैसे-कैसे अरमान, खुशियाँ जिनकी सुगन्ध आकाश तक फैली हुई थी, आँसू जो मोतियों जैसी चमक रखते थे–अरमान जो अधूरे रह गए, उमँगे जिन्हें मृत्यु अपने साथ ले गई, आशाएँ जो बर्फ के गोलों के भाँति पृथ्वी में समा गई। इन्सान मर जाते हैं, परन्तु उनकी खुशबुएँ यादों की छोटी-छोटी पोटलियों में रह जाती हैं। फिर एक दिन ये पोटलियाँ भी खुल जाती हैं, और इनकी सुगन्ध हवा में, आकाश में, और धरती के गर्भ में समा जाती है। और जब नए मानव का जन्म होता है तो वह अपने साथ नई सुगन्ध, एक नई खुशी, एक नई उत्कँठा लाता है–पहले से अधिक सुन्दर, सूक्ष्म, कोमल। और जीवन इन नवपल्लवों में विकसित होकर बोल उठता है–देख लो, देख लो, वसन्त अनन्त है, वसन्त अनन्त है!

अज़ीज़ और नूर समाधि से खुशी-खुशी लौटे। रास्ते में अपने भविष्य की चर्चा करते हुए, गीत गाते हुए, चढ़ाई चढ़ते हुए चले आ रहे थे कि एक ऊँचे पर्वत के वृक्ष पर अज़ीज़ को एक रतगल्ला नज़र आया। अज़ीज़ ने राइफल सीधी की, परन्तु नूर ने हाथ पकड़ लिया। बोली–''आज नहीं–देखो कितना सुन्दर पक्षी है, कैसी मीठी बोली बोलता है।''

वे रतगल्ले का चहचहाना सुनते रहे। फिर आगे बढ़े तो मधुमक्खियों की गुँजार सुनाई दी। देखा एक ऊँचे चीड़ के वृक्ष पर अँगूरों की बेल लिपटी हुई थी। परन्तु सूखी थी, उसपर पत्ते न थे। यह बेल ऊपर चीड़ के नुकीले झूमरों तक फैलती चली गई थी। यहाँ पर मधुमक्खियों ने

एक बहुत बड़ा छत्ता बना रखा था–अँगूर की बेल के ऊपर।

''हूँ।'' अज़ीज़ गुर्राया।

''क्या बात है?''

''यह देखो मधुमक्खियाँ कितनी सयानी होती है।''

''कैसे?'' नूरनशाँ ने पूछा।

''तुम्हें मालूम है इन मक्खियों ने चीड़ के वृक्ष पर छत्ता क्यों नहीं बनाया, बेल पर क्यों बनाया है?''

''नहीं तो।''

''रीछ से बचने के लिए। रीछ चीड़ के पेड़ पर चढ़ सकता है, परन्तु वहाँ तक नहीं पहुँच सकता जहाँ बेल पर छत्ता है। रीछ का बोझ यह बेल नहीं सहार सकती। बल्कि वहाँ पर तो यह इतनी कोमल है कि केवल इसके छत्ते का बोझ ही सहार सकती है।''

''तुम्हारा भी नहीं।'' नूरनशाँ ने पूछा।

अज़ीज़ उसकी ओर देखकर रुक गया, बोला–''शहद तो बहुत मीठा है परन्तु इन मक्खियों के डंक बड़े कड़वे होते हैं। मैं इस अँगूर की बेल पर भी चढ़ सकता हूँ परन्तु अभी मेरे पास कोई कम्बल नहीं है। कम्बल होता तो अभी तुम्हें छत्ते तक पहुँचकर दिखाता। कम्बल अपने चेहरे और सिर पर लपेट लेता और शहद का छत्ता तोड़ लेता। कल आऊँगा।'' इतना कहकर अज़ीज़ इधर-उधर देखने लगा ताकि मार्ग याद रख सके। नूरनशाँ ने हँसकर कहा–''नहीं, मुझे ऐसा शहद नहीं चाहिए। मैं तो यूँ ही कह रही थी। अब शीघ्रता से घर चलो, भूख लग रही है।'' अज़ीज़ ने कहा–''और मुझे तो और भी अधिक भूख इसलिए लग रही है कि आज तुम्हारे हाथ की पकी हुई रोटियाँ मिलेंगी।''

''उँह! इससे पहले कई बार हमारे घर में खा चुके हो।''

''परन्तु अपने घर में तो पहली बार है।''

जब अज़ीज़ और नूर अपने घर पहुँचे तो उन्हें द्वार खुला हुआ मिला। छत से धुआँ निकल रहा था। किसी ने आग लगाने का प्रयत्न किया था। परन्तु सन्थे की झाड़ियाँ गीली थीं। इस कारण घर को ठीक प्रकार आग न लग सकी थी। हाँडियाँ टूटी पड़ी थीं। अन्य बर्तन भी टूटे पड़े थे। नूरनशाँ के वस्त्र भी किसी ने फाड़ डाले थे। वे तार-तार हुए नीचे पड़े थे। दीया धरती पर औंधा पड़ा था और तेल उसके चारों ओर फैल चुका था।

सहसा नूर की चीत्कार निकल पड़ी–''हाय, मेरी गुलदुम!''

गुलदुम को किसी ने नोच-नोचकर फेंक दिया था। एक पंख यहाँ पड़ा था, एक वहाँ, धड़ कहीं और सिर कहीं! नन्ही-सी जान का नन्हा-सा तो तन था।

नूरनशाँ ने रोते-रोते उसके पंख एकत्रित किए, उसका सिर, धड़। फिर उसकी चोंच को

अपने कपोलों से लगाकर सिसकियाँ लेने लगी।

अज़ीज़ ने अपने लुटे हुए घर पर दृष्टि डाली, नूरनशाँ के काँपते हुए हाथों में गुलदुम का शव देखा, फिर उसने धीरे-से दीवार से लगी हुई राइफल को उठा लिया और घर से बाहर निकल गया। नूरनशाँ पूछती ही रह गई, ''तुम कहाँ जा रहे हो?'' परन्तु अज़ीज़ ने कोई उत्तर नहीं दिया।

देर तक चारों ओर सन्नाटा छाया रहा और इस पूर्ण निस्तब्धता में नूर को लगा जैसे उसके हृदय की धड़कन भी बन्द होती जा रही है।

फिर कहीं दूर एक गोली चली और नूरनशाँ का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। फिर एक गोली चली और नूरनशाँ का दिल और भी ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा और गुलदुम उसके हाथ से नीचे गिर पड़ी और उसने अपने दोनों हाथ अपनी छाती पर रख लिए।

फिर जैसे कई सौ वर्षों के लम्बे अर्से के बाद घर का द्वार खुला और बूढ़ा शिकारी अब्दुल्ला हौले-हौले पाँव रखता हुआ अन्दर आया और नूरनशाँ की ओर देखते हुए बोला–''तेरे लिए मेरे दोनों बेटे मारे गए।''

नूरनशाँ वहीं अपनी छाती पर हाथ रखे खड़ी रही।

अब्दुल्ला धीरे-से धरती पर झुक गया और घुटने टेककर दोनों हाथों से गुलदुम के टुकड़े चुन लिए और रुँधे हुए कण्ठ से बोला–''आओ इसे अभी दफ़न कर दें, क्योंकि फिर मुझे उनकी लाशें ढूँढ़ने खड्ड में जाना है।''

वह गुलदुम को दोनों हाथों में उठाए हुए धीरे-धीरे द्वार से बाहर चला गया।।

❑ ❑ ❑